वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००

विवेक-ज्योति

वर्ष ४८ अंक ४ अप्रैल २०१०

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अप्रैल २०१०

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४८
अंक ४

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–

(सदस्यता -शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक २० डॉलर; आजीवन २५० डॉलर (हवाई डाक से) १२५ डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९

(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है ।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो । पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय । पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो । भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें ।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें ।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें । अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें ।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता । स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं ।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय ।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा ।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें । वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है ।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें । यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें ।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें ।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें । उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा ।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रूपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है । यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अत: इसे हमें मत भेजें ।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें ।

नये प्रकाशन — संग्रहणीय ग्रन्थ

मेरा भारत अमर भारत

(स्वामी विवेकानन्द की उक्तियाँ, उनके जीवन की घटनाएँ और कुछ मनीषियों की दृष्टि में उनका जीवन तथा कृतित्व)

पृष्ठ संख्या – २०६

मूल्य – रु. ३५/– (डाक व्यय अलग)

शिक्षा का आदर्श

(स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा विषयक विचारों का नया संकलन)

पृष्ठ संख्या – १३२

मूल्य – रु. २५/– (डाक व्यय अलग)

नये प्रकाशन — संग्रहणीय ग्रन्थ

गीता का सार्वजनीन सन्देश

(तीन खण्डों में)

(लेखक – स्वामी रंगनाथानन्द जी)

पृष्ठ संख्या –

मूल्य – रु. ३५०/– (डाक व्यय अलग)

गीता का मर्म

(लेखक – स्वामी शिवतत्त्वानन्द)

पृष्ठ संख्या – १९६

मूल्य – रु. ३५/– (डाक व्यय अलग)

अपनी प्रति के लिये लिखें -

रामकृष्ण मठ (प्रकाशन विभाग)
रामकृष्ण आश्रम मार्ग, धन्तोली
नागपुर ४४० ०१२ (महाराष्ट्र)

वर्ष ४८ **अप्रैल २०१०** **अंक ४**

विवेक-चूडामणि

– श्री शंकराचार्य

अहङ्कारादिदेहान्ता विषयाश्च सुखादयः ।
वेद्यन्ते घटवद् येन नित्यबोधस्वरूपिणा ।।१३०।।

अन्वय – अहंकार-आदि-देहान्ता विषयाः च सुख-आदयः येन नित्यबोध-स्वरूपिणा घटवद् वेद्यन्ते (अयम् 'आत्मा' इति) ।

अर्थ – जिस नित्य-बोध-स्वरूप के द्वारा अहंकार से लेकर स्थूल देह तक, इन्द्रियों के सभी विषय और सुख-दु:ख आदि का घट आदि के समान ज्ञान होता है, (वह मैं-रूपी आत्मा ही तुम्हारे जानने योग्य है) ।

एषोऽन्तरात्मा पुरुषः पुराणो
निरन्तराखण्डसुखानुभूतिः ।
सदैकरूपः प्रतिबोधमात्रो
येनेषिता वागसवश्चरन्ति ।।१३१।।

अन्वय – एष अन्तरात्मा पुराणः पुरुषः निरन्तर-अखण्ड-सुख-अनुभूतिः सदा एकरूपः प्रतिबोध-मात्रः – येन इषिताः वाक्-असवः चरन्ति ।

अर्थ – यह अन्तरात्मा ही वह नित्य, अखण्ड, सुख के अनुभव स्वरूप, सर्वदा एकरूप, सभी विषयों में बोध-स्वरूप सनातन पुरुष है, जिसकी इच्छा से वाक् (वाणी) आदि इन्द्रियाँ तथा पंचप्राण अपने-अपने कार्यों में लगे रहते हैं ।

अत्रैव सत्त्वात्मनि धीगुहाया-
मव्याकृताकाश उशत्प्रकाशः ।
आकाश उच्चै रविवत्प्रकाशते
स्वतेजसा विश्वमिदं प्रकाशयन् ।।१३२।।

अन्वय – अत्र-एव सत्त्व-आत्मनि धी-गुहायाम् अव्याकृत-आकाशे उशत्-प्रकाशः आकाशः स्वतेजसा इदम् विश्वम् प्रकाशयन् उच्चैः रविवत् प्रकाशते ।

अर्थ – यह परम तेजोमय आत्मा इस शरीर में, सत्त्वगुण से युक्त अन्त:करण में, बुद्धिरूपी गुहा में, अव्यक्त आकाश (अर्थात् कारण शरीर) में निवास करता है और अपने तेज के द्वारा इस सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशित करता हुआ भी, सूर्य के समान उसके परे (साक्षीवत्) स्थित रहता है ।

ज्ञाता मनोऽहंकृति-विक्रियाणां
देहेन्द्रिय-प्राणकृत-क्रियाणाम् ।
अयोऽग्निवत्ताननुवर्तमानो
न चेष्टते नो विकरोति किञ्चन ।।१३३।।

अन्वय – (अयम् आत्मा) मनः-अहंकृति-विक्रियाणां देह-इन्द्रिय-प्राण-कृत-क्रियाणां ज्ञाता, अयः अग्निवत् तान् अनुवर्तमानः किञ्चन न चेष्टते, नो विकरोति ।

अर्थ – यह आत्मा – मन तथा अहंकार के समस्त विकारों (रूपों) का ज्ञाता है और देह, इन्द्रियों तथा प्राणों के समस्त क्रिया-कलापों का भी ज्ञाता है; यह (लौहपिण्ड में) अग्नि के समान उन (मन आदि तथा क्रियाओं) में निहित रहता है, तथापि उसमें न कोई क्रिया होती है और न ही कोई परिवर्तन ही आता है ।

❖ (क्रमशः) ❖

विवेक-गीति

– १ –

यह धर्मभूमि भारत, यह कर्मभूमि भारत ।
अनुपम है इस धरा पर, यह पुण्यभूमि भारत ।।

गाते है देवता भी, इसकी अपार महिमा,
इतिहास भी सुनाता, इसकी अपूर्व गरिमा,
इसने प्रसव किये है, ऋषि-मुनि मनीषि शत शत ।।

प्रकटन यहीं हुआ था, हर ज्ञान की विधा का,
फैली यहीं से जग में, विज्ञान की शलाका,
युग-युग से जो रहा है, विद्या-विचार में रत ।।

कुछ काल से हुआ है, यह देश धूलि-धुसरित,
अपमान बहुत झेले, पीड़ा सही है अगणित,
पर दिन बदल रहे हैं, स्वर्णिम भविष्य आगत ।।

वेदों की दिव्य वाणी, फिर गूँजती है जग में,
सद्धर्म की पताका, लहरा रही है नभ में,
फिर विश्व हो रहा है, इसके पदों में अवनत ।।

– २ –

अग्निमंत्र कर प्रदान, जननी हमें आज ।
निकल पड़े धारण कर, वीरता का साज ।।

सो रहे थे हो अचेत, जनम गया सेत-मेत,
अब खुली जो आँख, हमें आ रही है लाज ।।

क्षुद्र विषय अब न मोहे, तम-प्रमाद अब न सोहे,
कामना है प्राण जाय, माँ तुम्हारे काज ।।

वीर वाहिनी हमारी, चल पड़ी सुपथ पे न्यारी,
सुन हमारी गर्जना को, हिल उठे समाज ।।

मातु हमें मानुष कर, जीवन निज बल से भर,
देख सुपुत्रों का शौर्य, हो तुझे भी नाज ।।

दुःख-दैन्य स्वार्थ-लोभ, भेद-भाव जनित क्षोभ,
टूट पड़ें हम 'विदेह', जैसे गिरे गाज ।।

– 'विदेह'

महान् धर्माचार्य – गौतम बुद्ध

स्वामी विवेकानन्द

स्वामीजी की भारत सम्बन्धी उक्तियों का एक उत्कृष्ट संकलन कोलकाता के रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर ने My India, The India Eternal शीर्षक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है। प्रस्तुत है उन्हीं उक्तियों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

इसके बाद ही भारतीय इतिहास का एक शोकजनक अध्याय शुरू होता है। हम गीता में भी भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के विरोध के कोलाहल की दूर से आती हुई आवाज सुन पाते हैं और देखते हैं कि समन्वय के वे अद्भुत प्रचारक भगवान श्रीकृष्ण बीच में पड़कर विरोध को हटा रहे हैं। वे कहते हैं – सारा जगत् मुझमें वैसे ही गुँथा हुआ है, जैसे धागे में मणियाँ गुँथी रहती हैं –

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।।

साम्प्रदायिक झगड़ों की दूर से सुनायी देनेवाली धीमी आवाज हम तभी से सुन रहे हैं। सम्भव है कि श्रीकृष्ण के उपदेश से ये झगड़े कुछ देर के लिये रुक गये हों और समन्वय तथा शान्ति का संचार हुआ हो, परन्तु यह विरोध फिर उत्पन्न हुआ। केवल धर्ममत के आधार पर ही नहीं, सम्भवत: वर्ण के आधार पर भी यह विवाद चलता रहा – हमारे समाज के दो प्रबल अंग ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों, राजाओं तथा पुरोहितों के बीच विवाद आरम्भ हुआ था। और एक हजार वर्ष तक जिस विशाल तरंग ने समग्र भारत को सराबोर कर दिया था, उसके सर्वोच्च शिखर पर हम एक अन्य महामहिम मूर्ति को देखते हैं और वे हमारे शाक्यमुनि गौतम हैं। उनके उपदेशों और प्रचार-कार्य से तुम सभी अवगत हो। हम उनको ईश्वरावतार समझकर उनकी पूजा करते हैं, नैतिकता का इतना बड़ा निर्भीक प्रचारक संसार में दूसरा कोई पैदा नहीं हुआ, कर्मयोगियों में सर्वश्रेष्ठ स्वयं श्रीकृष्ण ही मानो शिष्य रूप से अपने उपदेशों को कार्यरूप में परिणत करने के लिये पैदा हुए।[१७]

जिस समय बुद्ध ने जन्म लिया, भारत को एक महान् धर्माचार्य – एक पैगम्बर की आवश्यकता थी। पुरोहितों का एक प्रबल संगठन यहाँ पहले से ही विद्यमान था। ... पुरोहित एक ईश्वर में विश्वास करते हैं, परन्तु उनका कहना है कि इस ईश्वर के निकट पहुँच पाना और उसे जान पाना – केवल उन्हीं के माध्यम से हो सकता है।[१८]

परन्तु जहाँ पुरोहित फल-फूल रहे थे, वहीं संन्यासी कहलाने वाले कवि-मनीषियों का भी अस्तित्व था। ... इस प्रकार प्राचीन भारत के इन कवि-मनीषियों ने पुरोहितों के मार्ग को नकार कर शुद्ध सत्य की घोषणा की। उन्होंने पुरोहितों की शक्ति को ध्वस्त करने का प्रयास किया और थोड़े सफल भी हुए। लेकिन दो ही पीढ़ियों में उनके शिष्य पुन: अन्धविश्वासों – पुरोहितों के पेचीले रास्तों – में वापस लौट गये और स्वयं भी पुरोहित बन गये – "सत्य को तुम हमारे द्वारा ही पा सकते हो।" सत्य फिर जम गया और पपड़ियों को तोड़ने तथा सत्य को मुक्त करने के लिये पैगम्बर फिर आये और यह क्रम इसी प्रकार चलता रहा। हाँ, सदा उस मानव का, उस पैगम्बर का आविर्भाव होते रहना अनिवार्य है, अन्यथा मानवता मर जाएगी।

पुरोहितों का कहना है कि केवल वे ही सत्य के योग्य लोग हैं ! जनता उसके योग्य नहीं ! सत्य को पतला करना जरूरी है ! उसमें थोड़ा पानी मिला लो !

गीता और 'पर्वत पर उपदेश' (Sermon on the Mount) को लो, वे मानो साक्षात् सरलता हैं। राह चलनेवाला भी उन्हें समझ सकता है। कितने महान् ! उनमें सत्य को स्पष्टता तथा सरलता से प्रकट किया गया है। लेकिन नहीं, पुरोहित यह मान ही नहीं सकते कि सत्य को इतने सीधे ढंग से प्रकट किया जा सकता है। वे दो हजार स्वर्गों और दो हजार नरकों की बात करते हैं। यदि लोग उनके नुस्खों का सेवन करेंगे, तो वे स्वर्ग में जाएँगे। यदि वे नियमों का पालन नहीं करते, तो नरक में जाएँगे !

लेकिन लोग सत्य से अवगत हो ही जाएँगे। कुछ लोग डरते हैं कि यदि सम्पूर्ण सत्य सबको दे दिया जाएगा, तो उससे उन्हें हानि पहुँचेगी। वे कहते हैं कि सबको विशुद्ध सत्य नहीं दिया जाना चाहिये। लेकिन सत्य के साथ समझौता करते रहने से जगत् को कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। वह जैसा है, अब वह उससे भी बुरा और क्या होगा? सत्य को बाहर लाओ ! यदि वह वास्तविक है, तो कल्याण ही करेगा। जब लोग इसका विरोध करते है और अन्य तरीके प्रस्तावित करते हैं, तो वे केवल जादू-टोनों (अन्धविश्वासों) का ही मण्डन करते हैं।

बुद्ध के समय में भारत इनसे परिपूर्ण था। जन-समुदाय थे, परन्तु उन्हें समस्त ज्ञान से वंचित कर दिया गया था। यदि वेदों का एक शब्द भी किसी मनुष्य के कान में पड़ जाता, तो उसे भीषण दण्ड दिया जाता था। जिन वेदों में प्राचीन हिन्दुओं द्वारा खोजे आध्यात्मिक सत्य संचित हैं, पुरोहितों ने उन वेदों को रहस्य बना रखा था।

अन्तत: एक व्यक्ति इसे और अधिक सहन नहीं कर सका। उसके पास मस्तिष्क, कर्मशक्ति और हृदय – विस्तीर्ण आकाश जैसा असीम हृदय था। उसने देखा कि पुरोहित लोग किस प्रकार जनता का नेतृत्व कर रहे हैं और वे किस प्रकार से अपनी शक्ति में गौरव का अनुभव कर रहे हैं। उसने इस विषय में कुछ करना चाहा। वह किसी पर अपना शक्तिपूर्ण अधिकार नहीं चाहता था। वह मनुष्यों के मानसिक और आध्यात्मिक बन्धनों को तोड़ डालना चाहता था। उसका हृदय विशाल था। वैसा हृदय हमारे आसपास के अनेक लोगों में हो सकता है और हम भी दूसरों की सहायता करना चाहते हैं। परन्तु हमारे पास वह मस्तिष्क नहीं है; हम वे साधन तथा उपाय नहीं जानते, जिनके द्वारा सहायता दी जा सकती है। परन्तु इस व्यक्ति के पास आत्माओं के बन्धनों को तोड़ फेंकने के उपायों को खोज निकालने वाला मस्तिष्क था। उसने जान लिया कि मनुष्य दु:ख से पीड़ित क्यों होता है और उसने दु:ख से निवृत्त होने का मार्ग ढूँढ़ निकाला। वह अत्यन्त कुशल व्यक्ति था। उसने सब बातों का समाधान कर लिया। उसने बिना किसी भेद-भाव के सभी लोगों को उपदेश दिया और उन्हें सम्बोधि की शान्ति प्राप्त करने के लिये प्रेरित किया। वह व्यक्ति थे बुद्ध ! ...

उन्होंने हर किसी को, बिना कोई भेद-भाव किये, वेदों के दर्शन के सारांश की ही शिक्षा दी। उन्होंने ये उपदेश सारे विश्व को दिये, क्योंकि मानव की समता उनके महान् सन्देशों में से एक है। सब मनुष्य बराबर हैं। वहाँ किसी के साथ कोई रियायत नहीं ! बुद्ध समता के महान् उपदेशक थे। उनकी शिक्षा थी कि आध्यात्मिकता प्राप्त करने में हर स्त्री-पुरुष को समान अधिकार है। उन्होंने पुरोहितों तथा अन्य जातियों के बीच का अन्तर मिटा दिया। उन्होंने निम्नतम लोगों को भी उच्चतम उपलब्धियों का अधिकारी बताया। उन्होंने हर किसी के लिये निर्वाण के द्वार खोल दिये। ...

उनका धर्म-सिद्धान्त यह था – हमारे जीवन में दु:ख क्यों है? – इसलिये कि हम स्वार्थी हैं। हम अपने लिये वस्तुओं की कामना करते हैं – इसी कारण दु:ख का अस्तित्व है। इससे छुटकारा पाने का मार्ग क्या है? – आत्मा का परित्याग करना। आत्मा की सत्ता नहीं है; यह प्रपंचात्मक जगत् – जिसे हम प्रत्यक्ष देखते हैं, इसी की सत्ता है। जन्म-मरण-चक्र के पीछे विद्यमान आत्मा नामक कोई वस्तु नहीं है। है – विचार-प्रवाह – एक विचार उत्तरोत्तर दूसरे विचार के पीछे चलता रहता है, प्रत्येक विचार एक ही क्षण में अस्तित्व को प्राप्त करता है और अस्तित्वहीन हो जाता है, बस केवल इतना; विचार का कोई ज्ञाता नहीं है, आत्मा नहीं है। शरीर प्रति क्षण परिवर्तित होता रहता है, वैसे ही मन तथा चेतना भी। अत: आत्मा एक भ्रम है। सारी स्वार्थपरता इस आत्मा को, इस भ्रान्तिजन्य आत्मा को पकड़े रहने से उत्पन्न होती है। यदि हम इस सत्य को जान लें कि आत्मा नहीं है, तो हम स्वयं सुखी होंगे और दूसरों को भी सुखी बनाएँगे।

यही था वह तत्त्व, जिसका बुद्ध ने उपदेश दिया। उन्होंने केवल बातें नहीं की – वे संसार के लिये स्वयं अपना जीवन तक देने को प्रस्तुत थे।[१८]

दुनिया में वे ही एकमात्र ऐसे थे, जो यज्ञों में पशुबलि रोकने हेतु, किसी प्राणी के जीवन की रक्षा के लिये अपना जीवन भी न्यौछावर करने को तत्पर रहते थे। एक बार उन्होंने एक राजा से कहा – "यदि किसी निरीह पशु की बलि देने से तुम्हें स्वर्ग-प्राप्ति हो सकती है, तो मनुष्य की बलि देने से और भी उच्च फल की प्राप्ति होगी। राजन्, उस पशु के पाश काटकर मेरी आहुति दे दो – इससे शायद तुम्हारा अधिक कल्याण हो।" राजा स्तब्ध रह गया।[१९]

उन्होंने कहा – "यह पशुबलि एक दूसरा अन्धविश्वास है। ईश्वर और आत्मा – दो बड़े अन्धविश्वास हैं। ईश्वर पुरोहितों द्वारा आविष्कृत एक अन्धविश्वास मात्र है। ब्राह्मण शिक्षा देते हैं कि ईश्वर है। यदि ईश्वर है तो इस जगत् में इतना दु:ख क्यों है? वह भी मेरे ही समान कारण के नियम का दास है। यदि वह कारण के नियम से आबद्ध नहीं है, तो सृष्टि क्यों रचता है? ऐसा ईश्वर जरा भी सन्तोषजनक नहीं है। जगत् का शासक स्वर्ग में है, जो विश्व पर अपनी मनमौजी इच्छा से शासन करता है और हमें यहाँ दु:ख में मरने के लिये छोड़ देता है – हम पर एक क्षण को दृष्टि डाल लेने तक की उसमें भलमनसाहत नहीं है। हमारा सारा जीवन अविच्छिन्न दु:ख है। लेकिन इतना ही दण्ड काफी नहीं है – मृत्यु के बाद हमें ऐसे स्थानों को जाना है, जहाँ हमें दूसरे दण्ड प्राप्त होंगे। तो भी हम जगत् के इस स्रष्टा को प्रसन्न करने के लिये निरन्तर तरह-तरह के विधि-विधान और अनुष्ठान किया करते हैं !"

बुद्ध ने कहा – "ये सारे अनुष्ठान गलत हैं। जगत् में केवल एक ही आदर्श है। सारे मोह को ध्वस्त कर दो, जो सत्य है, वही बचा रहेगा। बादल जैसे ही हटेंगे, सूर्य चमक उठेगा।" इस आत्मा को कैसे मारा जाय? पूर्णरूपेण नि:स्वार्थ हो जाओ, एक चींटी तक के लिये अपना जीवन देने को तैयार रहो। किसी अन्धविश्वास के लिये कर्म न करो, न

किसी ईश्वर को प्रसन्न करने के लिये, न कोई पुरस्कार पाने के लिये; वरन् इसलिये करो कि तुम अपनी आत्मा को मारकर अपनी मुक्ति पाना चाहते हो। उपासना, प्रार्थना और उसी तरह का बाकी सब निरर्थक है। तुम सभी कहते हो, 'मैं ईश्वर को धन्यवाद देता हूँ – लेकिन वह रहता कहाँ है? तुम नहीं जानते, परन्तु इसके बावजूद तुम सभी उस ईश्वर के पीछे दीवाने हो रहे हो।

हिन्दू लोग अपने ईश्वर के सिवा बाकी सब कुछ छोड़ सकते हैं। ईश्वर को अस्वीकार करने का अर्थ है – भक्ति के पैरों-तले से धरती ही खींच लेना। भक्ति और ईश्वर से हिन्दुओं को चिपके ही रहना होगा। ...

तो भी बुद्ध का धर्म तेजी से फैला। ऐसा उस अद्भुत प्रेम के कारण हुआ, जो मानवता के इतिहास में पहली बार एक विशाल हृदय से प्रवाहित हुआ और जिसने अपने को केवल मानव-मात्र की ही नहीं, प्राणि-मात्र की सेवा में अर्पित कर दिया था – ऐसा प्रेम, जिसे जीव-मात्र के लिये मुक्ति का एक मार्ग खोज निकालने के अतिरिक्त अन्य किसी बात की चिन्ता नहीं थी।

मानव ईश्वर से तो प्रेम करता था, पर अपने मनुष्य भाई के बारे में सब कुछ भुला बैठा था। जो मनुष्य ईश्वर के नाम पर अपने प्राण दे सकता है, वह पलटकर ईश्वर के ही नाम पर अपने बन्धु-मानव की हत्या भी कर सकता है। संसार की यही दशा थी। लोग ईश्वर की महिमा के लिये पुत्र की बलि दे देते थे, ईश्वर की महिमा के लिये राष्ट्रों को लूट लेते थे, ईश्वर की महिमा के लिये हजारों प्राणियों का वध कर डालते थे और ईश्वर की महिमा के लिये धरती को रक्तरंजित कर डालते थे। यह पहला अवसर था, जब उन्होंने एक अन्य ईश्वर – मानव – की ओर देखा। मनुष्य से प्रेम किया जाना चाहिये। मानव-मात्र के प्रति उत्कट प्रेम की यह पहली लहर थी – मिलवटों से रहित, ज्ञान की प्रथम लहर – जिसने भारत से निकलकर, दक्षिण, उत्तर, पूर्व, पश्चिम एक-एक करके बहुत-से देशों को आप्लावित कर डाला। ...

मैं आजीवन बुद्ध का परम अनुरागी रहा हूँ। ... अन्य किसी की अपेक्षा मैं उस चरित्र के प्रति सबसे अधिक श्रद्धा रखता हूँ – वह साहस, वह निर्भीकता, वह विराट् प्रेम! उनका जन्म मनुष्य के कल्याण के लिये हुआ था। लोग अपने लिये ईश्वर की, सत्य की खोज कर सकते हैं; परन्तु उन्होंने अपने निमित्त सत्य का ज्ञान प्राप्त करने की चिन्ता भी नहीं की। सत्य की खोज उन्होंने इसलिये की कि लोग दु:ख से पीड़ित थे। उनकी सहायता कैसे की जाय – यही उनकी एकमात्र चिन्ता थी। अपने सारे जीवन उन्होंने स्वयं के लिये एक विचार तक नहीं किया। ...

यदि वे जीवन में महान् थे, तो मृत्यु में भी महान् थे। उन्होंने तुम्हारे अमेरीकी आदिवासियों से मिलती-जुलती जाति के एक सदस्य द्वारा भिक्षा में दिये गये खाद्य पदार्थ को खा लिया। इस जाति के लोग बिना भक्ष्य-अभक्ष्य का कोई विचार किये सब कुछ खा लेते हैं, इसलिये हिन्दू लोग इनका स्पर्श तक नहीं करते। उन्होंने अपने शिष्यों से कहा, "तुम लोग इस चीज को मत खाना, परन्तु मैं इसे अस्वीकार नहीं कर सकता। उस आदमी के पास जाओ और कहो कि उसने मेरी – मेरे जीवन की एक बहुत बड़ी सेवा की है – उसने मुझे मेरे शरीर से मुक्त कर दिया है।" एक बूढ़ा आदमी आया और उनके निकट बैठ गया – वह सैकड़ों मील पैदल चलकर शास्ता के दर्शन करने आया था। बुद्ध ने उसे उपदेश दिया। जब उन्होंने एक शिष्य को रोते देखा, तो यह कहते हुए उसकी भर्त्सना की, "यह क्या? क्या यही मेरी सारी शिक्षाओं का फल है? किसी मिथ्या बन्धन को न रहने दो – न मुझ पर निर्भरता को, और न इस जाते हुए व्यक्तित्व के मिथ्या महिमा-मण्डन को। बुद्ध व्यक्ति नहीं है, वह एक अनुभूति है। अपनी मुक्ति स्वयं ही प्राप्त करो।"

मृत्यु के समय भी उन्होंने अपने लिये किसी विशिष्टता का दावा नहीं किया। इसीलिये मैं उन्हें श्रद्धा करता हूँ।[२०]

❖ (क्रमश:) ❖

सन्दर्भ-सूची – १७. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ५, पृ. १५६-५७; **१८**. वही, खण्ड ७, पृ. २०१-०६; **१९**. वही, खण्ड ७, पृ. १९८; **२०**. वही, खण्ड ७, पृ. २०६-१२

मन पर अंकुश लगाओ

तुम रात को आकाश में कितने तारे देखते हो, परन्तु सूरज उगने के बाद उन्हें देख नहीं पाते। परन्तु इस कारण क्या तुम यह कह सकोगे कि दिन में आकाश में तारे नहीं होते! हे मानव, अज्ञान-अवस्था में तुम्हें ईश्वर के दर्शन नहीं होते, इसलिए ऐसा न कहो कि ईश्वर हैं ही नहीं। ... यह दुर्लभ मनुष्य-जन्म पाकर जो इसी जीवन में ईश्वर की प्राप्ति के लिए चेष्टा नहीं करता, उसका जन्म लेना ही व्यर्थ है।

– *श्रीरामकृष्ण*

समय की पाबन्दी

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

मेरे एक मित्र हैं। समय के बड़े पाबन्द हैं। आज एक सफल उद्योगपति हैं। शिक्षक थे। वे अपनी सफलता का श्रेय समय की पाबन्दी को देते हैं। एक बार उन्होंने किसी उच्च अधिकारी से मिलने का समय लिया था। जिस समय उन्हें मिलने जाना था, उस समय घनघोर वर्षा हो रही थी। स्वाभाविक ही किसी का भी मन कहता कि बाद में मिल लेंगे, अभी ही मिलना उतना जरूरी नहीं है। उन्होंने मन को कोई बहानेबाजी नहीं करने दी और उस भंयकर वर्षा में भीगते हुए वे समय पर ही मिलने के लिए पहुँच गये। अधिकारी को बड़ा ही आश्चर्य हुआ, पर साथ ही उन्हें प्रसन्नता भी हुई कि कम-से-कम एक व्यक्ति तो उन्होंने देखा, जो समय का इतना पाबन्द था। बस, उन्होंने मेरे मित्र का काम तुरन्त कर दिया और तब से वे एक-एक करके सफलता के सोपानों पर चढ़ते गये।

समय की पाबन्दी जीवन के सभी क्षेत्रों में काम की है। यदि हम समय पर उठने, सोने, खाने-पीने और अपने काम-काज की आदत डालें, तो हम महानता प्राप्त करने की ओर एक सार्थक कदम उठा सकते हैं। इसके द्वारा अल्प समय में कार्य करने की क्षमता पैदा होती है। संसार में जिन व्यक्तियों ने महानता अर्जित की है, उनमें से अधिकांश का जीवन समय की पाबन्दी की एक सुन्दर गाथा रहा है। महात्मा गाँधी इसके ज्वलन्त उदाहरण रहे हैं। उनकी समय की पाबन्दी के बहुत से किस्से हैं, जो यही दर्शाते हैं कि उन्होंने अपने जीवन की क्रियाओं को किस प्रकार समय के द्वारा नियंत्रित कर लिया था।

प्रत्येक व्यक्ति बड़ा तो बनना चाहता है, पर उसके लिए वह किसी प्रकार की साधना नहीं करना चाहता। छल-बल या धन के जोर पर किसी को बड़प्पन नहीं मिला करता। जो मिला-सा दिखायी देता है, वह बालू की नींव पर बने मकान के समान तनिक से आघात से ढह जाता है। सच्चा बड़प्पन बाधाओं में तपकर और निखरता है। ऐसा बड़प्पन प्राप्त करने का प्रथम सोपान है – समय की उपासना।

समय की उपासना हमारे आलस्य और जड़ता को दूर करती है, तमोगुण के आधिक्य को काटती है और बुद्धि को सतेज बनाती है। बहुधा देखा जाता है कि यदि समय पर काम न हो, तो काम टल जाता है और हम दीर्घसूत्रता के शिकार हो जाते हैं। कहा जाता कि विश्वविजेता नेपोलियन एक मिनट के विलम्ब से पहुँचने के कारण ही वाटरलू में पराजित हो गया था।

जो समय की कीमत नहीं समझता, वह वास्तव में मानव-जीवन का सही मूल्यांकन नहीं कर पाता। ऐसे व्यक्ति के लिए जीवन में कोई उद्देश्य या लक्ष्य नहीं हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो वह पशुओं से किसी भी प्रकार उच्चतर जीवन नहीं बिताता। पशु काल की गणना नहीं करता और इसलिए उसमें काल का आयाम नहीं होता। पर मनुष्य काल की गणना करता है। काल की पकड़ का पहला कदम है – समय की पाबन्दी।

धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में भी समय की पाबन्दी अनिवार्य बतायी गयी है। यदि मैं साधना के क्षेत्र में पदार्पण करने का इच्छुक हूँ, तो निश्चित समय पर प्रतिदिन की साधना शीघ्रतर फलवती होती है। कुछ लोग पूछते हैं कि समय की निश्चितता पर इतना जोर क्यों? इसका उत्तर यह है कि कोई काम यदि रोज एक निश्चित समय पर किया जाय, तो ठीक उस समय हमारा मन उस कार्य की ओर अपने आप उन्मुख होने लगेगा। उदाहरणार्थ, यदि मुझे अपराह्न में ४ बजे चाय पीने की आदत है, तो ४ बजते ही मेरे मन में चाय की इच्छा जाग्रत हो जायेगी। यही तर्क निश्चित समय पर साधना करने या अन्य कोई काम करने पर भी लागू होता है। उससे हमारा मन अधिक एकाग्र हो जाता है और उसकी छिपी हुई क्षमता अधिकाधिक प्रकट होती है।

समय की पाबन्दी वस्तुत: मन के केन्द्रीकरण का अभ्यास है। मन में असीम सम्भावनाएँ निहित हैं। इन सम्भावनाओं को प्रकट करने का साधन मन का केन्द्रीकरण ही है। समय की पाबन्दी का अभ्यास पहले-पहल कष्टप्रद मालूम होता है, परन्तु धैर्यपूर्वक यदि उसे कोई साध लेता है, तो उसके लिए विश्व अपना खजाना खोल देता है।

नाम की महिमा (६/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९८७ ई. में रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में पण्डितजी के 'नाम-रामायण' पर जो प्रवचन हुए थे, उन्हें 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

पूरे रामायण में जिन युद्धों का वर्णन हुआ है, वे भौतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं और उन्हें पढ़कर व्यक्ति को वीररस की अनुभूति होती है। रामलीला में भी देखकर बड़ा कौतूहल तथा आनन्द मिलता है। परन्तु यदि आध्यात्मिक दृष्टि से भी विचार करके देखें, तो उनमें साधना के तत्त्व भी मिलेंगे।

सुबाहु और मारीच की समस्या और समाधान क्या है? सुबाहु दु:ख है और मारीच दोषयुक्त मन। यहाँ दो चीजें हैं – एक दोषयुक्त मन और दूसरा दु:ख। भगवान ने क्या किया? – दु:ख को मिटा दिया और दोष को दूर कर दिया। जीवन में ये दो प्रक्रियाएँ अपेक्षित हैं। पहले तो वे पावकास्त्र चला कर उसके द्वारा सुबाहु-रूपी दु:ख को भस्म कर देते हैं।

कर्म-सिद्धान्त के द्वारा दु:ख की समस्या हल्की तो पड़ती है, परन्तु समूल नष्ट नहीं होती; क्योंकि मनुष्य के जीवन में समस्या यह है कि एक ओर तो दु:ख आता है और दूसरी ओर वह स्वयं अपने दु:ख बढ़ाता है। यदि व्यक्ति चाहे कि मेरा दु:ख मिटे, तब तो उसका ध्यान उसी पर केन्द्रित हो गया। परन्तु अधिकांश लोगों का ध्यान इस ओर चला जाता है कि दु:ख 'किसने' दिया ! हम उससे 'कैसे' बदला निकालें ! दु:ख का कष्ट तो था ही, परन्तु बहुत-से लोग इस 'किसने' और 'कैसे' की खोज करते रहते हैं।

बताने पर कहेंगे – ''अच्छा ! निन्दा सुनकर चोट लगी।'' तो एक वृत्ति यह है कि ध्यान से सोचकर देखें कि सचमुच ही क्या यह दोष हममें है; और उसको मिटाने की चेष्टा करें। पर यह वृत्ति तो बहुत कम आती है। उनका पहला प्रश्न यह होगा – ''पहले बताओ कि किसने कहा? बताओ कि किसने यह निन्दा की?'' इसके बाद उसकी निन्दा करेंगे – ''अच्छा, वह हमारी निन्दा करता है? उसमें तो हमसे भी अधिक दोष हैं !'' इतना ही नहीं, उससे बदला लिए बिना सन्तोष नहीं होगा। व्यक्ति ऐसा विस्तार कर देता है ! जिसे समेटना है, उसका विस्तार कर देता है; परन्तु कर्म-सिद्धान्त इस विस्तार को समेट देता है। दु:ख को तो वह नहीं मिटा पाता, परन्तु दु:ख के विस्तार को रोकता है। कैसे? कर्म-सिद्धान्त ने एक सूत्र दे दिया। दु:ख आने पर व्यक्तियों की खोज मत कीजिए, क्योंकि – ईश्वर ने विश्व में कर्म को ही प्रधान कर रखा है। व्यक्ति अपने ही कर्मों के अनुसार फल भोगता है –

करम प्रधान बिस्व करि राखा।
जो जस करइ सो तस फलु चाखा।। २/२१८/४

यह भाव रखें, तो लगता है कि हमारे जीवन में इस रूप में यह जो प्रतिकूल दु:ख आ रहा है, यह मेरे ही पूर्वजन्म के किसी-न-किसी पाप का परिणाम है। ऐसी स्थिति में किसी व्यक्ति से द्वेष करने या उससे बिना मतलब के संघर्ष करने की आवश्यकता नहीं होगी। किसी को सजा मिलने के बाद यदि वह जेलखाने में याद करता रहे कि कितनी सजा मिल गई है, तो उसका दु:ख और बढ़ेगा। यदि उसके मन में यह सन्तोष आवे कि चलो एक दिन कम हो गया, अब दो दिन कम हो गया, तो इसके परिणामस्वरूप उसके मन में एक तरह के सन्तोष का उदय होगा। इसलिए जीवन में जब दु:ख की कोई घटना आये, तो यह सोचकर सन्तोष करना चाहिए कि जीवन में कर्मों का जो परिणाम था, वह धीरे-धीरे मिट रहा है, धुल रहा है। चलो, जब हम पूरी तौर से इस दु:ख को भोग लेंगे, तब हम पूरी तौर से इस दु:ख की समस्या से मुक्त हो जाएँगे। इस प्रकार **मनुष्य कर्म-सिद्धान्त के द्वारा अपने दु:ख को समेटे।**

परन्तु दु:ख को समेट लेने पर भी दु:ख की सत्ता मिट नहीं जाती। लक्ष्मण और निषादराज के संवाद में इसका सुन्दर संकेत मिलता है। उस समय भगवान राम कुश की शैया पर सोये हुए हैं। यहाँ पर भी वही दृष्टिकोण की बात आ जाती है। भगवान राम का वन-गमन क्या है? रामायण के भिन्न-भिन्न पात्रों ने इसको अलग-अलग दृष्टियों से देखा। एक दृष्टि कैकेयी की है, दूसरी दृष्टि कौशल्याजी की है, तीसरी दृष्टि भरतजी की है, चौथी दृष्टि श्रीराम की है, पाँचवी दृष्टि अयोध्या के नागरिकों की और छठी दृष्टि मुनियों की है। यह वन-प्रसंग अपने आप में मानो एक संकेत करने के लिए कि जब कोई घटना होती है, तो उसकी प्रतिक्रिया सब पर एक-सी नहीं होती। प्रत्येक व्यक्ति अपनी दृष्टि से उस घटना को देखता है, तो उसको वैसी अनुभूति होती है। यहाँ उस प्रसंग के विस्तार का औचित्य नहीं है। आप उस पूरे प्रसंग को देखियेगा कि उस घटना को किसने किस दृष्टि से देखा।

निषादराज ने जब भगवान राम को कुश की शैया पर सोए हुए देखा, तो वे बड़े दु:खी हुए। निषादराज बड़े भावुक और सहृदय हैं। कैकेयी ने उनकी कोई हानि नहीं की है। पर भगवान श्रीराम को कुश-शैया पर सोये हुए देखकर उन्हें उनके प्रति जब सहानुभूति आई, तो उन्होंने विचार किया कि भगवान राम को कुश-शैया पर क्यों सोना पड़ रहा है? तब उन्हें यही लगा कि कैकेयी ने वरदान न माँगा होता, तो यह न होता। निषादराज लक्ष्मणजी के पास बैठे थे। वे लक्ष्मणजी से बोले – कैकयराज की पुत्री दुर्बुद्धि कैकेयी ने कुटिल करके श्रीराम तथा जानकीजी को सुख की जगह दु:ख दे दिया –

कैकयनंदिनि मंदमति कठिन कुटिलपनु कीन्ह।
जेहिं रघुनंदन जानकिहि सुख अवसर दुखु दीन्ह।।२/९१

लक्ष्मणजी चाहते तो कैकेयीजी के बारे में और भी दस बातें सुना सकते थे। वे तो अपने कठोर स्वभाव के लिए प्रसिद्ध ही हैं, पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। उन्होंने निषादराज को उधर जाने से रोका – अरे तुम कहाँ भटक गये? और कर्म-सिद्धान्त का सूत्र देते हुए कहा – निषादराज, कैकेयीजी को दोष देना व्यर्थ है – कोई किसी को सुख-दु:ख देनेवाला नहीं है। व्यक्ति अपने ही कर्मों का परिणाम भोगता है –

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता।
निज कृत करम भोग सबु भ्राता।। २/९१/४

एक दृष्टान्त लें। मान लीजिये कि कहीं कोई दुर्घटना हो जाय और कोई मृत्यु के समाचार का टेलीग्राम लेकर आये, तो क्या ऐसा करेंगे कि जो समाचार लाया, उसी की पिटाई शुरू कर दें कि तुमने इतना भयानक समाचार दिया! सामने वही दिखाई दे रहा है, परन्तु वह तो एक निमित्त मात्र है।

लक्ष्मणजी का उत्तर सुनकर निषादराज को बड़ा आश्चर्य हुआ – महाराज, आपने कैकेयीजी को तो बचा लिया, पर इसका तो यही अर्थ निकलता है कि श्रीराम ने ही पूर्वजन्म में कोई ऐसा कर्म किया होगा, जिसका वे फल भोग रहे हैं। लक्ष्मणजी ने मुस्कराते हुए कहा – अब यह तो दृष्टि की बात हैं। कुश की शैया पर सोकर श्रीराम को दु:ख हो रहा है या तुम्हें दु:ख हो रहा है? बहुत विलक्षण विवाद है। बोले – जो सोये हैं, उन्हें तो इतनी गहरी नींद आ गई। उनको तो कहीं से दु:ख की अनुभूति नहीं हो रही है और तुम दु:खी हो रहे हो। सुख और दु:ख भी दृष्टि पर निर्भर करता है। जिस घटना में तुम दु:ख देख रहे हो, श्रीराम के पास ऐसी दृष्टि है कि उस घटना को भी उन्होंने सुख के रूप में देखा। जब कैकेयीजी ने वरदान माँगे, तो भगवान राम बोले – माँ, यह बताओ कि किसी को एक लाभ होने की कल्पना हो और चौगुना लाभ हो जाय, तो वह कितना प्रसन्न होगा? तुमने कैसा बढ़िया वर माँग लिया – वन में मुनियों से मिलने का सौभाग्य, जिसमें सब प्रकार से मेरा हित होगा, फिर पिताजी की आज्ञा का पालन होगा और मेरे प्राणप्रिय भरत को राज्य मिलेगा। इससे तो यही लगता है कि आज विधाता सब प्रकार से मेरे अनुकूल हैं –

मुनिगन मिलनु बिसेषि बन
सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि
संमत जननी तोर।। २/४१
भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू।
बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू।। २/४१/१

यही दु:ख में आनन्द लेने की वृत्ति है। घटनाओं को देखने की जो श्रीराम की दृष्टि है, वह दु:ख में आनन्द लेने की वृत्ति है। लक्ष्मणजी निषादराज को बताना चाहते हैं कि दु:ख का विस्तार मत करो, दु:ख को देखने की दृष्टि बदलो या दु:ख यदि दु:ख के रूप में दिखाई पड़े, तो उसका कारण अपने कर्म में ढूँढ़ो, परन्तु यदि दृष्टि बदलने की क्षमता हो, तो दुख में भी आनन्द की खोज करो। दु:ख में भी किसी-न-किसी श्रेष्ठ परिणाम की ओर दृष्टि डालकर धन्य हो जाओ।

समुद्र-मन्थन की उस पौराणिक कथा का भी यही अर्थ है, जिसमें भगवान शंकर विष में अमृतत्व पा लेते हैं। परन्तु सब लोग तो नहीं पाते। दु:ख में आनन्द केवल वाक्य में सरल है, पर उसको स्वीकार कर पाना उतना सरल नहीं है। तब लक्ष्मणजी ने दूसरा उत्तर दिया और यही है विचार का उत्तर। उन्होंने कहा – व्यक्ति जब तक विचार का आश्रय नहीं लेगा, तब वह कितना भी प्रयत्न क्यों न करे, जब तक संसार को सत्यत्व का भान बना हुआ है, पूर्व और पूर्वजन्म की धारणा बनी हुई है, कर्म और कर्म का परिणाम बना हुआ है, तब तक व्यक्ति दु:ख से मुक्त नहीं होगा। इसलिए तब लक्ष्मणजी निषादराज को ज्ञान-सिद्धान्त का उपदेश देते हैं – जैसे स्वप्न में कोई राजा भिखारी हो जाए या कोई कंगाल स्वर्ग का स्वामी हो जाये, तो जागने पर लाभ या हानि कुछ भी नहीं है, वैसे ही इस संसार-प्रपंच को देखना चाहिए –

सपनें होइ भिखारि नृपु
रंकु नाकपति होइ।
जागें लाभु न हानि कछु
तिमि प्रपंच जियँ जोइ।। २/९२

और सूत्र दे दिया मोह की रात्रि में व्यक्ति सो रहा है, नींद में वह सपना देख रहा है और सपने के दु:ख से दुखी है –

मोह निसाँ सबु सोवनिहारा।
देखिअ सपन अनेक प्रकारा।। २/९२/२

उस दु:ख से बचने का उपाय वैराग्य है और वैराग्य तभी होगा, जब संसार के मिथ्यात्व का ज्ञान होगा। जब तक कोई वस्तु हमें वास्तविक प्रतीत होती है, तब तक मन में वैराग्य का उदय नहीं होगा। इसलिए लक्ष्मणजी ने सोने और जागने

की परिभाषा की – जो व्यक्ति दु:ख का अनुभव कर रहा है, वह मोह की रात्रि में सोया हुआ है और मोह की रात्रि में सोकर सपने देख रहा है और सपने में दु:ख देखकर अपने को दुखी मान रहा है। तब निषादराज ने पूछा – फिर जागने का क्या लक्षण है? लक्ष्मणजी ने सूत्र देते हुए कहा – जब अन्त:करण में समस्त विषयों के विलास से वैराग्य उत्पन्न हो जाय, तब समझना चाहिये कि व्यक्ति जग गया है –

जानिअ तबहिं जीव जग जागा।
जब सब बिषय बिलास बिरागा ।। २/९२/४

जैसा मैंने कहा – ज्ञान और वैराग्य एक दूसरे के पूरक हैं। ज्ञान के द्वारा व्यक्ति को नित्य और अनित्य का पता चलता है और वैराग्य उसका परिणाम है। या फिर वैराग्य का परिणाम ज्ञान मान लीजिये। जब तक व्यक्ति को विषयों में ही आनन्द की अनुभूति हो रही है, तब तक वह ज्ञान-प्राप्ति के लिये प्रयत्न ही नहीं करेगा। यह ज्ञान दो प्रकार से होता है – पहला यह कि विषय दु:खरूप हैं और दूसरा कि विषय अनित्य हैं। व्यक्ति जब जानेगा कि विषय दु:खरूप हैं, तो उसके मन में यह जानने की इच्छा उत्पन्न होगी कि सुख कहाँ है ! और जब उस सुख के लिए ज्ञान आयेगा, तो वह वैराग्य का दूसरा रूप होगा। जब जान लिया कि यह संसार तो मिथ्या है, तो ऐसी स्थिति में उसे विषय से वैराग्य होगा। ज्ञान के पहले दु:खजन्य वैराग्य; और ज्ञान के बाद जो वैराग्य होता है, उसमें संसार के रूप को जान लिया, तो कहीं पर आकर्षण का लेश तक नहीं रह गया।

ज्ञानदीपक-प्रसंग में भी आपको ज्ञान-वैराग्य का संकेत मिलेगा। वह प्रसंग बड़ा ही गम्भीर है। वहाँ पर ज्ञान और वैराग्य के समन्वय की ओर संकेत किया गया। ऐसी स्थिति में ज्ञान और वैराग्य के बिना दु:ख की समस्या मिट नहीं सकती। ज्ञान और वैराग्य – एक-दूसरे के पूरक हैं। श्रीराघवेन्द्र ने सुबाहु के रूप में जिस दु:ख को देखा, उसका समाधान उन्होंने इसी रूप में किया कि भगवान राम स्वयं अखण्ड ज्ञान हैं और उन्होंने मानो योगग्नि के द्वारा, वैराग्य की अग्नि के द्वारा उस सुबाहु को जलाकर भस्म कर दिया। भगवान राम का संकेत यह था कि यदि जीवन से दु:ख को मिटाना है, तो हमें चाहिये कि हम ज्ञानयुक्त होकर दु:ख के ऊपर वैराग्य का प्रहार करें और उसके द्वारा दु:ख की सत्ता का नाश हो जाय। यह है सुबाहु रूप दु:ख का विनाश।

इसके साथ ही यहाँ नाम के सन्दर्भ में भी जो सूत्र है, वह यह है कि नाम-जप करनेवाला यदि ज्ञान-वैराग्य की वृत्ति को धारण नहीं करेगा, तो उसका क्या परिणाम होगा? वह नाम के द्वारा भी विषयों को ही तो माँगने की चेष्टा करेगा ! ऐसी बात नहीं कि इनका निषेध है, या फिर जप करने से सांसारिक कामनाओं की पूर्ति नहीं होती। वैसा भी होता है।

लेकिन यदि यह मान लिया जाय कि जप का या नाम के आश्रय के फल से हमारी कामनाएँ पूरी होंगी, तो वह वैसा ही होगा, जैसे बच्चे खिलौनों से प्रसन्न होते हैं, मिठाई से प्रसन्न होते हैं। वह भी एक आनन्द है। बचपन का वह आनन्द भी आनन्द ही है, लेकिन जब वह बड़ा होगा, तब वह केवल खिलौनों से आकृष्ट या सन्तुष्ट नहीं होगा। ऐसा भी हो सकता है कि यदि कोई प्रतिकूल परिस्थिति सामने आ जाय, तो व्यक्ति की आस्था टूट जाय, उसके मन से नाम तथा जप के प्रति महिमा का भाव ही चला जाय।

इस क्रम को ध्यान में रखिये। नाम-जप करते हुए यदि हम भोगासक्ति को मिटाने की प्रार्थना करते हैं; यदि हम भगवान या गुरु या सन्त से प्रार्थना करते हैं कि आप ऐसा बल दीजिए की नाम-जप से हमारी बुद्धि की भोगासक्ति मिटे, तो मानो हमने नाम से सही माँग की। इसी प्रकार नाम-जप करते हुए यदि हम ज्ञान-वैराग्य की माँग करें, तो हमने सही माँग की। मूल बात यह है कि हम चाहते क्या हैं ! चाहने का स्वरूप तो यही है कि हम भगवान के नाम का जप करते हुए हम यह माँगें कि हमारे अन्त:करण में ज्ञान तथा वैराग्य का उदय हो और उस ज्ञान-वैराग्य के द्वारा दु:ख का समूल नाश हो जाय। यही नाम-जप की सही दिशा है।

रामायण और नाम-रामायण एक ही है, अन्तर केवल इतना ही है कि रामायण में भगवान राम ने जो कार्य 'रूप' के द्वारा किया था, नाम-रामायण में वही कार्य 'नाम' के द्वारा होता है। इसका सूत्रात्मक तात्पर्य यही है कि किसी प्रकार हमारे अन्त:करण में ज्ञान-वैराग्य का उदय हो।

दूसरी ओर मारीच है; उसे भगवान ने तत्काल मार नहीं दिया। आगे मारीच-वध का प्रसंग आयेगा। मारीच अन्त में मरकर भगवान में विलीन होगा। यह मारीच कौन है? मारीच के प्रसंग में दोषयुक्त मन की समस्या का समाधान है।

रामायण के कुछ पात्र ऐसे हैं जिनकी प्रशंसा की गई है और कुछ पात्र ऐसे हैं जिनकी निन्दा की गई है। परन्तु तीन पात्र ऐसे हैं, जिनकी प्रशंसा तथा निन्दा – दोनों ही की गई और वे हैं – अयोध्या-काण्ड में कैकेयीजी, अरण्य-काण्ड में मारीच और सुन्दर-काण्ड में समुद्र। इन तीनों की प्रशंसा और निन्दा, दोनों ही मिलेंगी। कैकेयीजी की प्रशंसा तो स्वयं भगवान राम करते हैं – मेरी माँ बड़ी महान् हैं, उन्हें वे मूर्ख लोग ही दोष देते हैं, जिन्होंने कभी गुरु और साधुओं की सभा का सेवन नहीं किया है –

दोसु देहिं जननिहि जड़ तेई।
जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई ।। २/२६२/८

और श्रीभरत और सारे अयोध्यावासी कैकेयीजी की निन्दा करते हैं। तो कैकेयीजी वन्दनीय हैं या निन्दनीय? अरण्य-काण्ड में मारीच का प्रसंग आता है। मारीच क्या है? उसके

लिए 'दुष्ट' शब्द का प्रयोग किया गया है – दुष्ट मारीच का वध करके भगवान तुरन्त लौटे –

खल बधि तुरत फिरे रघुबीरा ।। ३/२७/१

फिर वहीं उसके लिए कहा गया – उसके मन में परम हर्ष है कि आज मैं अपने चिर स्नेही श्रीराम को देखूँगा –

मन अति हरष जनाव न तेही ।
आजु देखिहउँ परम सनेही ।। ३/२६/८

उसके बाद – प्रभु ने उसके हृदय के प्रेम को जान लिया और वही परम गति दी, जो मुनियों को भी दुर्लभ है –

अंतर प्रेम तासु पहिचाना ।
मुनि दुर्लभ गति दीन्हि सुजाना ।। ३/२६/१७

तो मारीच दुष्ट है या प्रेमी? दोनों शब्द एक ही प्रसंग में आते हैं। और तीसरा पात्र है समुद्र। इस प्रसंग में भी जब भगवान राम ने पूछा कि समुद्र कैसे पार करें, तो विभीषणजी बोले – प्रभो, समुद्र आपका कुलगुरु है; वे विचार करके उपाय बतला देंगे और तब वानर-भालुओं की सारी सेना बिना परिश्रम के ही समुद्र के पार उतर जाएगी –

प्रभु तुम्हार कुलगुर जलधि
कहिहि उपाय बिचारि ।।
बिनु प्रयास सागर तरिहि
सकल भालु कपि धारि ।। ५/५०

भगवान राम ने तुरन्त स्वीकार कर लिया – मित्र ! तुमने अच्छा उपाय बताया –

सखा कही तुम्ह नीकि उपाई ।। ५/५१/१

वे कुशासन बिछाकर समुद्र के किनारे बैठ गये। उपवास करके समुद्र से प्रार्थना करते रहे, उपवास किया। तीन दिन व्यतीत हो गये, परन्तु समुद्र सामने नहीं आया। तब भगवान राम ने लक्ष्मणजी की ओर देखा और कहा – लक्ष्मण, जरा धनुष-बाण तो ले आओ –

लछिमन बान सरासन आनू ।। ५/५८/२

अभी समुद्र से प्रार्थना कर रहे थे और अब धनुष-बाण मँगा रहे हैं। बोले – प्रार्थना करना ठीक नहीं था। भगवान का वाक्य बड़ा कठोर था। वे समुद्र के लिए कौन-से शब्द प्रयोग करते हैं – दुष्ट से विनय नहीं करना चाहिये –

सठ सन बिनय कुटिल सन प्रीती ।। ५/५८/१

अभी-अभी कुलगुरु कहा गया और अब दुष्ट कह दिया गया। क्या मानें? समुद्र दुष्ट है या कुलगुरु? कैकेयीजी निन्दनीय हैं या वन्दनीय? और फिर मारीच को हम किस दृष्टि से देखें? इसका सूत्र यह है कि वस्तुत: हमारे जीवन में ये तीनों हैं। इन तीनों के विषय में यह कहना कठिन है कि इनकी निन्दा की जाय या प्रशंसा?

कैकेयीजी मूर्तिमती क्रिया हैं। विचार करके देखें कि क्रिया निन्दनीय है या वन्दनीय। यहाँ भी वही बात है। क्रिया में ऐसा हो ही नहीं सकता कि उसकी सदा निन्दा-ही-निन्दा हो और ऐसा भी नहीं हो सकता की उसकी सदा प्रशंसा-ही-प्रशंसा हो। कभी आपकी क्रिया लोगों को निन्दा करने की प्रेरणा देती है और कभी आपकी क्रिया प्रशंसा करने की प्रेरणा देती है। हमें विचार इस बात पर करना है कि क्रिया निन्दनीय कब होती है और क्रिया प्रशंसनीय कब होती है?

वैसे ही समुद्र क्या है? यह देह और देहाभिमान है। तो देह निन्दनीय है या वन्दनीय? बड़ा सुन्दर संकेत आता है। हनुमानजी जब सीताजी की खोज में जाने लगे, तो समुद्र ने उन्हें देखा और तत्काल मैनाक पर्वत से कहा – मैनाक, तुम जाकर हनुमानजी को विश्राम दो, ताकि इन्हें थकान न आये और ये विश्राम लेकर सीताजी तक पहुँच सकें –

जलनिधि रघुपति दूत बिचारी ।
तैं मैनाक होहि श्रम हारी ।। ५/१/९

समुद्र की यह भी एक भूमिका है कि वह हनुमानजी को विश्राम देने की चिन्ता कर रहा है। मैनाक ने हनुमानजी को समुद्र का सन्देश सुनाया – उन्होंने कहा है कि आप विश्राम कर लीजिए, तब जाइये। हनुमानजी ने कहा – विश्राम का निमंत्रण तो स्वीकार कर रहा हूँ, पर विश्राम अभी नहीं करूँगा। – तो कब करेंगे? हनुमानजी ने उसे हाथ से छू दिया और फिर प्रणाम करके कहा – भाई ! भगवान श्रीराम का कार्य सम्पन्न किए बिना मेरे लिये विश्राम कहाँ? –

हनुमान तेहि परसा कर पुनि कीन्ह प्रनाम ।
राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम ।। ५/१

सचमुच ज्योंही भगवान राम का कार्य पूरा हुआ, हनुमानजी सीताजी से मिल चुके, वाटिका के फल खा चुके, वाटिका को उजाड़ चुके, लंका को जला चुके, तो इसके बाद उन्होंने पहला काम क्या किया? हनुमानजी ने तत्काल लंका के ही एक बड़े भवन से छलाँग लगाई और समुद्र में कूद पड़े। इसके बाद वे समुद्र से बोले – तुमने निमंत्रण दिया था न, अब मैं उसे स्वीकार करने आ गया हूँ –

उलटि पलटि लंका सब जारी ।
कूदि परा पुनि सिंधु मझारी ।। ५/२६/८
पूँछ बुझाइ खोइ श्रम ... ... ।। ५/२६

इस प्रकार समुद्र का दो तरह का व्यवहार है। यदि कोई भगवान राम से पूछे कि आप समुद्र से प्रार्थना करने क्यों बैठ गये? तो भगवान श्रीराम कहते कि हनुमानजी जैसा भक्त सीताजी को पाने जा रहा था और जो सीताजी की प्राप्ति के मार्ग में सहायक बने, जो साधक की थकान मिटाने की चेष्टा करे, उससे बढ़कर प्रशंसनीय दूसरा कौन होगा? – तो फिर आप इतने रुष्ट क्यों हो गये? बोले – जब हनुमानजी जा रहे थे, तब तो यह उनके मार्ग में सहायक बना और मैं लंका से

सीताजी को छुड़ाने के लिए जा रहा हूँ, तो यह जान-बूझकर विलम्ब करवा रहा है।

इसका बड़ा सरल-सा तात्पर्य यह है कि कैकेयी-रूपी क्रिया निन्दनीय तब होती है, जब वह राम को वन भेज दें, राम को बनवासी बना दे। जो क्रिया हमारे जीवन से ईश्वर को दूर कर दे, वह क्रिया निन्दनीय है। और क्रिया वन्दनीय कब हो जाती है? – जब वह भरत को जन्म देती है। और भरतजी सबको चित्रकूट ले जाकर भगवान से मिलाते हैं। तो जो क्रिया रामप्रेम के रूप में भरत को जन्म दे, वह वन्दनीय है; और जो क्रिया स्वार्थपरता उत्पन्न करके जीवन से ईश्वर को दूर कर दे, वह निन्दनीय है।

यही सत्य शरीर का भी है। शरीर निन्दनीय है या वन्दनीय? जरा सोचिये – आप कथा सुनने आए हैं। इसमें किसका सहयोग है? शरीर का ही न! सुनेंगे तो कान से ही न! तो जो कथा में आया है, वह कितना धन्य है? परन्तु यहाँ पहुँचकर भी यदि नींद आने लगे, तो उसकी प्रशंसा करें या निन्दा? नींद भी तो शरीर का ही धर्म है। यहाँ भी उत्तर यही है कि शरीर यदि भक्ति-मार्ग में सहायता दे, तब तो वह वन्दनीय है; और शरीर यदि उसमें बाधा पहुँचाये तो वह निन्दनीय है। समुद्र को कुलगुरु कहा गया; शरीर भी तो गुरु है। गुरु तो बाहर बनाए जाते हैं और बाहरवाले गुरु तो साल दो साल या घण्टे दो घण्टे के लिए मिलेंगे, परन्तु हमें यह शरीर-रूपी जो गुरु मिला है, वह तो दिन-रात साथ में है – चौबीसों घण्टे और पूरे जीवन भर। वह सारी बातें बताता भी रहता है। देखिए न कोई रोग हो जाता है, तो शरीर बता देता है कि तुमने यह खाया, यह कुपथ्य किया, इसलिए यह रोग हुआ। गुरु का कार्य दोष बताना ही तो है। शरीर भी हर तरह के दोष को बता देने वाला है, बशर्ते कि कोई शरीर से शिक्षा लेना चाहे। दशरथजी ने तो शरीर से ही शिक्षा प्राप्त की। गुरु वशिष्ठ से पहले ही उन्होंने शरीर से शिक्षा ली। उन्होंने जब दर्पण में अपना मुख देखा, तो उनका ध्यान किस ओर गया? सफेद बालों की ओर। शरीर में किसके बाल सफेद नहीं होते? सभी के बाल कभी-न-कभी सफेद होते ही हैं। बहुधा सबसे पहले कान के पास के बाल सफेद होने की प्रक्रिया देखी जाती है। तो दर्पण देखकर क्या हुआ? जैसे गुरु उपदेश देता है, वैसे ही मानो दर्पण बोला और दशरथजी ने उसे सुना – मानो बुढ़ापा उपदेश कर रहा था – राजन्, आपका यह मुकुट टेढ़ा होगा और खिसकेगा। यह मुकुट श्रीराम को दे दीजिए। सत्ता का समर्पण कर दीजिए। श्रीराम को युवराज का पद देकर अपना जन्म तथा जीवन का सदुपयोग कर लीजिये –

श्रवन समीप भए सित केसा।
मनहुँ जरठपनु अस उपदेसा।।
नृप जुबराजु राम कहुँ देहू।
जीवन जनम लाहु किन लेहू।। २/२/७-८

इस प्रकार शरीर गुरु हो गया। वृद्धावस्था आकर मनुष्य के मन से भोग-लालसा को दूर कर देती है, भोग करने की उसकी क्षमता को घटा देती है। व्यक्ति के जीवन में संयम की प्रेरणा देती है। यही तो गुरु की भूमिका है। ऐसी स्थिति में शरीर एक महान् गुरु है और इस रूप में वह वंदनीय है।

परन्तु थोड़े ही लोग ऐसे हैं, जिनके जीवन में शरीर गुरु है। अधिकांश लोगों के जीवन में शरीर दुष्ट ही है। अधिकांश लोगों के शरीर द्वारा जैसे कार्य होते हैं, जिस प्रकार आलस्य -तमोगुण की वृद्धि होती है, भक्ति में देरी होती है, विविध प्रकार की साधनाओं में बाधा आती है, इससे यही संकेत मिलता है कि शरीर तभी वन्दनीय है, जब वह हनुमानजी को भक्तिमार्ग में बढ़ने में – भक्ति और ईश्वर के भजन में सहायक बने। यदि उसमें बाधा डाले, तो शरीर निन्दनीय है।

और मारीच है – मनुष्य का मन। मन निन्दनीय है या वन्दनीय? बहुत बढ़िया बात है। वह भगवान राम की ओर गया। मन यदि भगवान की ओर जाय, तो इससे बढ़िया बात क्या होगी? पर भगवान की ओर जाकर फिर उनसे दूर भागे, तब क्या कहेंगे? यह मारीच वाला अनुभव तो हम लोगों को नित्य होता रहता है। मारीच पहले भगवान की ओर गया और जब भगवान को देखा तो उनसे दूर भाग गया। मन का भी यही रूप है। मारीच मन है। मन की निन्दा की जाय या प्रशंसा की जाय? और यही तो सूत्र आपको मिलेगा।

मन एव मनुष्याणां कारणं बंध-मोक्षयोः ।।

मन यदि बन्धन का हेतु बने, तो निन्दनीय है और मन यदि मोक्ष का हेतु बने, तो वन्दनीय है। मारीच का चरित्र मन का चरित्र है। भगवान ने मारीच के साथ जो खेल किया, उसके द्वारा यह बताया कि इस मन की समस्या का समाधान कैसे मिले। इसीलिए भगवान श्रीराघवेन्द्र ने मारीच को अवसर दिया कि मारीच अपने आपको बदल सके। मारीच यदि बहुरूपिया है, मारीच में यदि चिन्तन है, तदाकारता है, तो इनका सदुपयोग कैसे हो? भगवान उसके लिये दो प्रकार के बाणों का प्रयोग करते हैं। एक बाण बिना फल का था, जिसके द्वारा उन्होंने मारीच की चिन्तन की वृत्ति का सदुपयोग किया; और दूसरे फलयुक्त बाण के द्वारा भगवान ने मारीच-रूपी मन की चंचलता को मिटाकर उस मन को अपने में विलीन कर लिया। नाम-जप का उद्देश्य भी यही है कि हमारे मन की चंचलता और दोष दूर हो जाय और भगवान की ओर जानेवाला हमारा मन किसी तरह भगवान में समा जाय। पर यह कैसे होता है, इसे हम आगे देखेंगे।

❖ (क्रमशः) ❖

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

१५४. जीवन एक अनबूझ पहेली

सन्त बायजीद संध्या के समय एक गाँव से गुजर रहे थे कि रास्ता भटक गये। थोड़ा आगे बढ़ने पर उन्हें एक लड़का दिखाई दिया, जो हाथ में एक दीया लिये चला जा रहा था। बायजीद ने उससे पूछा, ''यह दीया किसने जलाया और इसे कहाँ ले जा रहे हो?'' ''लड़के ने जवाब दिया, ''इसे मैंने ही जलाया है, यह मुझे अँधेरे में राह दिखायेगा''।

बायजीद ने फिर पूछा, ''यानी ज्योति तेरे ही सामने जली है। बता भला यह यह ज्योति कहाँ से आई?'' लड़के ने एक क्षण सन्त की ओर देखा। फिर ज्योति को फूंक मारकर बुझा दिया और संत से प्रश्न किया, ''आपके सामने ज्योति को बुझाया है। आपने ज्योति को बुझते हुए देखा है। अब आप ही बताइये कि ज्योति कहाँ और कैसे गई?''

सन्त ने प्रश्न सुना, तो स्तब्ध रह गये। उनसे जवाब देते न बना। वे बोले, ''अभी तक मैं स्वयं को बड़ा ज्ञानी मानता था, परन्तु अब जान गया कि मेरा ज्ञान अधूरा ही है, क्योंकि मैं यह बता सकने में असमर्थ हूँ कि जीवन कहाँ से आता है और कहाँ चला जाता है? उसके बाद उसका क्या होता है, इस विषय में भी मैं अनभिज्ञ हूँ। जीवन यह एक जटिल पहेली है, जिसको हल करना अत्यन्त कठिन है।''

मनुष्य का जीवन रहस्यमय है। मृत्यु को लोग परम अन्त के रूप में देखते हैं, लेकिन जीवन में कई रूप होने के कारण वह वास्तव में क्या है – इसे वे नहीं जानते। लोग वर्तमान स्थिति को ही जीवन समझने की भूल करते हैं।

१५५. अहंकार है सर्प समाना

एक बार उपासनी महाराज शाम के समय संध्या-वन्दन करके उठे ही थे कि सामने उन्हें अपने स्वर्गीय दादा की आकृति दिखाई दी। उन्होंने उनको दण्डवत किया। उठते समय उन्हें आभास हुआ कि दादाजी ने तीन बार 'अहमद-नगर' शब्द का उच्चारण किया और अन्तर्धान हो गये। उपासनी महाराज सोचने लगे कि दादाजी ने अहमद-नगर शब्द क्यों कहा। उनकी समझ में कुछ भी नहीं आया। अत: उन्होंने इसी शब्द का जप करना शुरू किया। सहसा उनके ध्यान में आ गया कि दादाजी ने वास्तव में अहमद-नगर नहीं बल्कि 'अहं'-'मद'-'न'-'गर' – इन चार शब्दों को एक साथ कहा था, जो उन्हें 'अहमद-नगर' सुनाई दिया था। वे सोचने लगे कि इन शब्दों के कहने का उनका क्या प्रयोजन था और उनके ध्यान में बात आ गई कि 'अहं' यानी अहंकार, 'मद' यानी दम्भ, 'न' यानी नहीं व 'गर' यानी विष – इस प्रकार उनके कहने का अर्थ यह था कि अहंकार और दम्भ – ये विष के समान हैं, अत: तुम इनके वशीभूत मत होओ।

१५६. मानव सब आपस में भाई

स्वाधीनता के पहले की बात है। सर्दी के दिनों में एक बालक ने गाँधीजी को केवल एक धोती पहने देखा, तो पूछ बैठा, ''बापू, बिना कुरते के आपको ठण्ड नहीं लगती?'' उन्होंने उत्तर दिया, ''मैं कुरता सिलवा नहीं सकता।'' बच्चा बोला, ''तो फिर आपके पास कुरता सिलाने के लिये पैसे नहीं है। मगर आप फिक्र न करें, मेरी माँ बहुत अच्छे कुरते सीती है। मैं उससे आपके लिये भी दो कुरते सीने के लिये कहूँगा।'' बापू ने मुस्कुराते हुए कहा, ''बेटा, दो कुरतों से मेरा काम नहीं चलता। मेरे तो बहुत सारे भाई हैं और उन्हें भी कुरतों की जरूरत है।'' बच्चे ने कहा – ''मेरी माँ बड़ी दयालु है। मेरा कहना वह कभी नहीं टालेगी।'' गाँधीजी बोले, ''माना कि तुम्हरी माँ दयालु है, मगर तुम नहीं जानते कि मेरे करोड़ों भाइयों के लिये कपड़े सीने की हैसियत तुम्हारी माँ की नहीं है। वह इतने कुरते कैसे सिल सकेगी?'' बालक उनकी बात को समझकर निरुत्तर रह गया।

१५७. परतिय मातु समान

शिवाजी दक्षिण की ओर विजय-यात्रा कर रहे थे। मार्ग में बल्लारी रियासत पड़ी। शिवाजी ने उस पर हमला किया और दुर्ग को कब्जे में ले लिया। पति की मृत्यु होने के बाद रानी मलबाई ही वहाँ के शासन की बागडोर सँभालती थी। सैनिकों ने रानी को बन्दी बनाकर शिवाजी के समक्ष हाजिर किया। रानी बोली, ''आपके बारे में मैंने बहुत कुछ सुना था, किन्तु एक परतंत्र रानी को बन्दी बनाना आप जैसे स्वाभिमानी राजा को शोभा नहीं देता।'' शिवाजी ने उत्तर दिया, ''परतंत्र बल्लारी है, आप नहीं; अपने राज्य की सीमा बढ़ाना हर राजा का कर्त्तव्य है। आपको बन्दी बनाये जाने की बात से मैं पूर्णत: अनभिज्ञ था। सैनिकों द्वारा आपसे किये गये दुर्व्यवहार के लिये मैं लज्जित हूँ और क्षमाप्रार्थी हूँ। परस्त्री तो मेरे लिये माता के समान वन्दनीय है। मैं उसे भला बन्दी कैसे बना सकता हूँ! आप अपने को परतंत्र नहीं स्वतंत्र ही समझिये।''

रानी गद्गद होकर बोली, ''आप सचमुच ही 'छत्रपति' कहलाने के योग्य हैं। आप देश के गौरव हैं। बल्लारी की शक्ति सर्वदा आपका समर्थन करती रहेगी।''

आत्माराम के संस्मरण (२२)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्दजी से उन्हें संन्यास-दीक्षा मिली थी। उन्होंने बँगला में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। अब तक हम उनके तीन ग्रन्थों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी' एवं 'आत्माराम की आत्मकथा' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। १९६५-६६ के दौरान उन्होंने एक बार पुन: कुछ संस्मरणों को बँगला भाषा में लिखा था। उनमें से कुछ अप्रकाशित हैं। पूर्व-प्रकाशित घटनाएँ भी भिन्न विवरणों के साथ लिखी गयी हैं, अत: पुनरुक्त होने पर भी रोचक, शिक्षाप्रद तथा प्रेरणादायी हैं। – सं.)

धारचूला : ईसाई मित्रों से भेंट

धारचूला में एक दिन अपराह्न में लगभग तीन बजे दो लोग संन्यासी के पास आये और बताया कि उन्हें प्यास लगी है, पीने का पानी मिल सकता है क्या? उन्हें बैठाकर पानी पिलाया गया और चाय का समय हो जाने पर चाय के लिये भी आमंत्रित किया गया। ये दोनों ही ईसाई थे।

बोले – "पहाड़ी हिन्दू लोग तो हमें पानी तक नहीं देते और आपने तो अपने बरतन में ही चाय दे दिया।" संन्यासी के पास, गीता के साथ ही Imitation of Christ (ईसानुसरण) नामक पुस्तक पड़ी हुई थी। उसे देखकर बोले – "यह पुस्तक क्या है, क्या हम जान सकते हैं?"

संन्यासी ने तत्काल उसे उनके हाथ में देते हुए कहा – "यह आप ही लोगों की पुस्तक है। हम लोगों को बहुत अच्छी लगती है। बाइबिल के बाद हम लोग इसी को स्थान देते हैं।" पुस्तक देखकर – "यह पुस्तक तो हम लोगों को ज्ञात नहीं है। बड़ी अच्छी पुस्तक है।"

संन्यासी – "आप लोग इसे ले जाइये। ऐसा अद्भुत ग्रन्थ आपने नहीं देखा, यह तो बड़े आश्चर्य की बात है। साधना की दृष्टि से यह अमूल्य है। टॉमस-ए-कैम्पिस ने अद्भुत उपदेश दिये हैं।" पुस्तक पाकर वे लोग बड़े आनन्दित हुए। जाते समय निमंत्रण देते गये – लौटते समय पिथौरागढ़ होते हुए ही तो जायेंगे – उसी रास्ते में हमारा आतिथ्य ग्रहण करने से हमें खुशी होगी।

Imitation of Christ (ईसानुसरण) ग्रन्थ उन लोगों को इतना अच्छा लगा कि पिथौरागढ़ लौटने के बाद वे लोग उसे रोज रात को पढ़ा करते थे। सबको खूब अच्छा लगता। उन्होंने एक साथ ही ५० प्रतियों के लिये आदेश भेजा। दो अमेरिकी महिलाओं – सीनियर सिस्टर्स को इसकी जानकारी मिलने पर, उन्होंने इसका विरोध करते हुए कहा – "यह पुस्तक अपाठ्य की तालिका में है।" यह प्रश्न करने पर कि "क्यों निषिद्ध पुस्तकों की तालिका है?" उन्होंने बिना कोई उत्तर दिये केवल इतना ही कहा कि – "यह आदेश है।"

पूर्वोक्त दोनों सज्जन कैम्प अधिकारी तथा हेड मास्टर थे। उन्होंने संन्यासी को पत्र लिखकर जानना चाहा कि ऐसा क्यों है? संन्यासी ने अमेरिका में (मेथाडिस्ट चर्च के) अधिकारियों से वह प्रश्न करने को लिखा। वहाँ से उत्तर आया – "वह पढ़ना मना है।" बस ! और कोई बात नहीं।

संन्यासी ने बाद में सूचित किया कि – To follow is to imitate, to imitate is to become (Christ). – (अनुसरण का अर्थ है अनुकरण और अनुकरण का अर्थ है वही (ईसा) बन जाना) – सम्भवत: यही वाक्य इसका कारण होगा।

मायावती जाते समय संन्यासी ४-५ दिनों के लिये उनका अतिथि हुआ था। एक रविवार के दिन उन लोगों ने प्रार्थना के बाद संन्यासी से कुछ बोलने के लिये अनुरोध किया। एक वयस्क सिस्टर सभाध्यक्ष थीं। संन्यासी ने अपने वक्तव्य में यह भी कहा – "आप लोग ईसा मसीह का अनुसरण करते हैं, यह उत्तम है, परन्तु आप लोग यह नहीं भूलेंगे कि आप लोग भारतीय हैं। ईसा को हम लोग भारतीय मानकर उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति दिखाते हैं। आप लोग और भी अच्छे ईसाई बनें, परन्तु भारतीय भावों को अपनाते हुए।" इस पर वे सिस्टर खूब नाराज हो गयीं और सभाध्यक्ष के रूप में बिना कुछ बोले ही उठ गयीं। उसी रात दो बजे हेड मास्टर आये (संन्यासी उन्हीं के घर में ठहरा हुआ था)। इतनी रात गये आने का कारण पूछने पर वे बोले – "सिस्टर के ऐसे व्यवहार पर कैम्प के सभी लोग रुष्ट हो गये हैं। अब तक उसी को लेकर चर्चा चल रही थी। उन लोगों से कहा गया है कि आपसे क्षमा माँगें। वे सुबह यहाँ आयेंगी।" सुबह आकर उन्होंने अपने अभद्र व्यवहार के लिये क्षमा याचना की। संन्यासी ने कहा कि उसने जरा भी बुरा नहीं माना है।

संन्यासी पिथौरागढ़ से मायावती जायेगा। संन्यासी के पास सम्बल के रूप में केवल एक कम्बल, दो-तीन पुस्तकें तथा कमण्डलु और साढ़े पाँच रुपये थे। सुपरिंटेंडेंट तथा हेड मास्टर ने कहा – "एक बड़े गरीब मास्टर हैं। वे भी लोहाघाट (मायावती के पास) जा रहे हैं। आप कुली को जो तीन रुपये देते, वह उन्हें देने से उनका बड़ा भला होगा। वे आपका सामान ढोकर ले जायेंगे।"

संन्यासी ने कहा – जो सामान है, उसे तो वह स्वयं ही ढो सकेगा। कुली की जरूरत नहीं होगी। परन्तु उन सज्जन को भेजिये। उन्हें एक अभावग्रस्त भाई के रूप में तीन रुपये

दे दूँगा। मास्टर ने आकर अपने दु:ख की कहानी सुनाई और बताया कि प्रत्याशा के लोभ में पड़कर ईसाई हुए थे; फिर जिस (मेथाडिस्ट प्राइमरी) स्कूल में वे पढ़ाते थे, उसे बन्द कर दिये जाने के कारण अब वे बेकार बैठे हैं। हिन्दू लोग यदि स्वीकार करें, तो वे अपने ३-४ सन्तानों के साथ पुन: हिन्दू होने के लिये तैयार हैं।

संन्यासी ने कहा – "ऐसा करना भूल होगी। समाज अब भी वैसा उदार नहीं हो सका है। और आपकी वैसी शिक्षा-दीक्षा भी नहीं है, अत: यह अन्न-समस्या और भी बढ़ सकती है। इससे अच्छा यह होगा कि आप एक बेहतर ईसाई बनने का प्रयास करें। ये रुपये ले लीजिये।"

मास्टर ऐसे ही लेने को तैयार नहीं हुए। बोले – "आपका कार्य करके ही उसे ले सकता हूँ। जो भी सामान है, उसे उठाकर साथ ही चलूँगा। ऐसे ही नहीं लूँगा।"

संन्यासी – "देखिये, आपका इतना तो लाभ हुआ ही है कि आपकी मेहनत करके तभी मजदूरी लेने की बुद्धि हुई है। कोई हिन्दू होता तो, सम्भवत: सौ में से सौ प्रतिशत ही ले लेता। कुछ सेवा देकर लेने की बुद्धि नहीं रखता।"

वे रास्ते भर वह कम्बल तथा पुस्तकें ढोकर ले गये और दुकानदार से संन्यासी के स्नान हेतु गरम पानी तथा रोटियाँ बनवा कर साथ-साथ लोहाघाट तक गये थे। धन्य हैं वे !

लोहाघाट का विचित्र अनुभव

पिथौरागढ़ के लोगों ने लोहाघाट-चर्च के फादर (भारतीय) के नाम एक पत्र लिखकर संन्यासी के बारे में सूचित करते हुए अपने पास उसके विश्राम की व्यवस्था करने का अनुरोध किया था। तदनुसार उन्होंने व्यवस्था कर रखी थी। बड़े सज्जन आदमी थे। परन्तु विधि को कुछ और ही मंजूर था। संन्यासी जब लोहाघाट के निकट पहुँचा, तो टाला के जमींदार महाशय के साथ भेंट हुई। ये जलवायु-परिवर्तन के लिये लोहाघाट आये हुए थे। भेंट होते ही बोले – "चलिये, हमारे यहाँ।" संन्यासी ने बारम्बार कहा कि व्यवस्था पहले ही हो चुकी है और वहीं जाना उचित है, नहीं जाने से वे दुखी होंगे। परन्तु उन्होंने एक न सुनी और बलपूर्वक पकड़कर अपने डेरे पर ले गये। संन्यासी ने हारकर साथ के मास्टर को अपनी ओर से फादर से क्षमा-याचना करके उन्हें सब कुछ बताने को कहा और यह भी सूचित करने को कहा कि अगले दिन वह आकर भेंट करेगा। टाला -बाबू स्वयं भी एस.डी.ओ. के मेहमान के रूप में ठहरे हुए थे। बाहर तम्बू लगा हुआ था, उसी में संन्यासी की चीजें रखने के बाद उन्होंने एस.डी.ओ. को बताया। उन्होंने स्वागत किया और चाय लाने का आदेश दिया। तीनों जन तीन कुर्सियों में बैठे चाय पी रहे थे, तभी फादर संन्यासी को ले जाने के लिये स्वयं ही आकर हाजिर हो गये। बोले – "सारी व्यवस्था की हुई है। भोजन आदि बनाने के लिये एक ब्राह्मण भी है।" परन्तु टाला-बाबू ने किसी भी तरह नहीं छोड़ा। आखिरकार उन्हें अपनी लाचारी बताते हुए उन्हें यह कहकर विदा किया कि सुबह उनके यहाँ चाय पीने आयेंगे और ब्राह्मण की जरूरत नहीं होगी। संन्यासी तथा टाला-बाबू खड़े-खड़े बातें कर रहे थे। एस.डी.ओ. बैठे-बैठे चाय पीते रहे, फादर के लिये कुर्सी नहीं मँगवायी। उनके इस अभद्र व्यवहार पर संन्यासी को दु:ख हुआ। टाला बाबू संन्यासी को घर के भीतर अपनी श्रीमतीजी से मिलाने ले गये।

हम लोग के बीच बातचीत खूब जमी हुई थी। एस.डी.ओ. उस समय अनुपस्थित थे। वे रात को आठ बजे लौटे। उनके हाथ में बन्दूक थी। बोले – "मुर्गाबी आदि तो नहीं मिली।" इसके बाद वे नौकर से बोले – "ऐ ब्वाय, खाना लगाओ।" इतना कहकर वे बरामदे में रखी मेज के पास आये और लड़का ले आया। भोजन करते हुए वे संन्यासी से बोले – "आप हिन्दू संन्यासी हैं। आप उस अधम ईसाई के यहाँ खाने जायेंगे? यह कैसी बात? आप लोग तो धर्म का नाश कर रहे हैं! शास्त्र के विपरीत आचरण करके धर्म का सर्वनाश करना क्या आपके लिये उचित है?" आदि, आदि। एस.डी.ओ. कानपुर के तिवारी ब्राह्मण थे – सूट-बूट पहने और बिना हाथ-मुख धोये भोजन करने के लिये बैठे थे। इस पर संन्यासी मन-ही-मन नाराज था, आखिरकार बाध्य होकर बोल उठा – "धर्म के विषय में संन्यासी को उपदेश देने की आवश्यकता नहीं। संन्यासी का धर्म क्या है – यह उसे भलीभाँति ज्ञात है; बल्कि आप स्वयं ही अपना धर्म नहीं जानते और उपदेश दे रहे हैं। गये तो थे मुर्गाबी मारने के लिये ! बिना हाथ-मुख धोये सूट-बूट पहने ही मेज पर खाने बैठ गये ! आपके बाप-दादा क्या ऐसा ही करते थे? मैं तो देखता हूँ कि आपको यह भी नहीं मालूम कि ब्राह्मण का कर्तव्य क्या है; और संन्यासी को उपदेश दे रहे हैं ! संन्यासी अपना धर्म जानता है। आप-जैसे लोगों का उपदेश लेकर चलने की उसे जरूरत नहीं है।" आदि, आदि।

टाला बाबू हाथ जोड़ रहे थे; दरवाजे के पीछे से उनकी पत्नी भी हाथ जोड़ रही थी; एस.डी.ओ. की गृहिणी भी उनके पीछे खड़ी हाथ जोड़ रही थी। संन्यासी और कुछ न कहकर उठा और बाहर बगीचे में चला गया।

करीब एक घण्टे बाद टाला बाबू को ढूँढ़ते देखकर पास आया। रात के भोजन के लिये खोज रहे थे। संन्यासी टाला बाबू के साथ घर में भोजन कर रहा था, तभी एस.डी.ओ. की पत्नी आयीं और हाथ जोड़कर क्षमा माँगने लगीं। संन्यासी ने उन्हें अभय देते हुए कहा कि वह नाराज नहीं हुआ है, परन्तु वह बिना बोले भला कैसे रह सकता था ! यह बताना जरूरी

था कि उन्हें संन्यासी को आचरण या धर्म की शिक्षा देने का अधिकार नहीं है; आदि, आदि।

अगले दिन सुबह एस.डी.ओ. ने क्षमा प्रार्थना की। संन्यासी को चर्च ले जाने के लिये फादर स्वयं ही आ गये थे। विभिन्न प्रकार की धर्मचर्चा करते हुए वे साथ ले गये और वहाँ खूब यत्नपूर्वक चाय, टोस्ट तथा फल आदि खिलाया। उनकी धर्मपत्नी ने भी धर्मचर्चा में उत्साहपूर्वक भाग लिया। संन्यासी ने बताया – किसी भी धर्म की निन्दा न करना ही उचित है; अपने धर्म का प्रचार करते समय तात्त्विक दृष्टि से ही बातें कहना उचित है। उन्हें श्रीरामकृष्ण को हुए ईसा मसीह के दर्शन के बारे में भी बताया।

जब वह विदा लेकर लौटने लगा, तो फादर काफी दूर तक साथ आये और रास्ते में बोले – "मायावती से नीचे जाते समय एक गाँव पड़ता है। उस गाँव में एक वृद्ध मोची रहते हैं, जो बड़े रामभक्त हैं। सर्वदा रामायण पढ़ते रहते हैं। यदि आप उनसे भेंट करें, तो वे बड़े आनन्दित होंगे। (थोड़ी देर चुप रहकर) वे मेरे पिता हैं। बचपन में ही उन्होंने मुझे मिशनरियों के हाथ में सौंप दिया था। मैंने उन लोगों के कॉलेज में पढ़ाई की। डिविनिटी कॉलेज में पढ़ने के बाद मुझे यही कार्य मिला है। उनके साथ अवश्य ही भेंट करें। मैं आपकी निरभिमानिता देखकर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। आप वास्तविक सज्जनता के उदाहरण-स्वरूप हैं। बीच-बीच में मैं अपने पिता को बुलाकर लाता हूँ। वे मेरे हाथ का नहीं खाते। स्वयं पकाकर खाते हैं और कुछ दिन ठहरते हैं। मेरा यह धर्म-जीवन उन्हीं की कृपा से मिला है। वे जितना भी सेवाधिकार मुझे देते हैं, मैं उसी को स्वीकार करके स्वयं को धन्य समझता हूँ।"

उसी दिन शाम को चाय पीने के बाद संन्यासी मायावती गया। १९२४ ई. का वर्ष था। उस समय स्वामी माधवानन्दजी अद्वैत आश्रम के अध्यक्ष थे और वहाँ उपस्थित थे।

मायावती में

संन्यासी एक बार मायावती गया था। जाते समय लोहाघाट में एक बंगाली परिवार के साथ भेंट हुई। एक रात अपने यहाँ बिताने को बाध्य किया। बंगला भाषा में बातें करने का अवसर न मिलने के कारण सबका – विशेषकर महिलाओं का पेट फूल रहा था। बातें भी खूब हुईं।

उन लोगों के साथ एक प्रौढ़ा ब्राह्मणी भी रहती थी, रसोई बनाती थी। एक दिन वह जंगल के रास्ते अकेले ही मायावती के आश्रम में आ पहुँची। – "यह कैसा साहस किया आपने?" (उन दिनों उधर भालुओं का काफी उपद्रव चल रहा था।) ब्राह्मणी विधवा थी, दूसरे का पकाया हुआ भोजन उसे नहीं चलता था, अत: हविष्यान्न की व्यवस्था कर दी गयी। संन्यासी उनके पास बैठकर बातें कर रहा था। बोलीं – "बाबा, कैसे देश में आ गयी हूँ! कोई बातें करनेवाला तक नहीं है। रह नहीं सकी बाबा, इसीलिये दो बातें करने के लिये यहाँ आयी हूँ। आप लोगों को देखकर मेरे प्राण शीतल हुए। जान बची। बाबू लोग सब शिकार करने गये हैं, न जाने कब तक लौटेंगे।" आदि, आदि। बातें समाप्त होने का नाम ही नहीं लेती थीं।

स्वामीजी जब यूरोप से लौट रहे थे और जब उनका जहाज अदन के बन्दरगाह में रुका था, तो पान-बीड़ी बेचनेवाले एक बिहारी भाई को देखकर वे दौड़कर उसके पास चले गये थे और आनन्द से भरपूर होकर उसके साथ बातें करने लगे। साथ के यूरोपियन भक्तों ने जब पूछा – "वह कौन है?" तो वे उत्फुल्ल भाव से बोले – "वह मेरे देश का आदमी है, भारतवासी है।" भारतवासी के साथ बातें करके ही उन्हें इतना आनन्द हो रहा था! कितना सुन्दर भाव है! यही आदर्श भी है।

कन्याकुमारी

१९२६ ई.। सुदूर कन्याकुमारी की बात है। संन्यासी वहाँ ठहरा हुआ था। पिल्लै महाशय प्रतिदिन काफी पिलाते और कभी-कभी विविध प्रकार के प्रश्न उठाकर सत्संग भी करते थे। एक दिन वे दो संन्यासियों को साथ लेकर हाजिर हुए।

एक जन बोले – "श्री पिल्लै से पता चला कि आप वेदान्ती संन्यासी हैं। बड़ी अच्छी बात है। हम लोगों का एक प्रश्न है – जो शंकरपन्थी वेदान्ती हैं, सर्व-ब्रह्मवादी हैं, वे जात-पात का भेद किस आधार पर करते हैं? शंकराचार्य स्वयं भी वैसा कर गये हैं, परन्तु उनके अद्वैत-सिद्धान्त के साथ इस भाव का सामंजस्य कैसे बैठेगा? अब्राह्मणों को वैदिक संन्यास में अधिकार नहीं है – इस अवैदिक प्रथा को सम्भवत: उन्होंने ही चलाया। आप शंकरपन्थी हैं, इसलिये इसका उत्तर दीजिये।"

उन्होंने थोड़े उग्र भाव से ही यह प्रश्न किया था। संन्यासी ने शान्त भाव से उत्तर दिया कि जहाँ तक उसे ज्ञात है, श्री शंकराचार्य ने त्रिवर्णों का संन्यास में अधिकार माना है, चतुर्थ वर्ण शूद्र का अधिकार नहीं माना। आप लोग गीता को तो अवश्य ही मानते होंगे। उसमें लिखा है – स्त्री, वैश्य तथा शुद्र भी भक्ति को अपना कर उत्तम गति को प्राप्त करते हैं। यह बात और गुण-कर्म-विभाग द्वारा चतुवर्ण सृष्टि की भी बात है। वहीं पर वर्ण के अनुसार कर्म-प्रवृत्ति का भी उल्लेख है। उसके साथ मिलाकर देखने पर सम्भवत: समझा जा सकता है कि उन्होंने शूद्र को संन्यास में अधिकार क्यों नहीं दिया। शूद्र के नियत प्रवृत्ति में त्याग-प्रधान संन्यास का स्थान शायद इसीलिये नहीं है। भक्ति-शास्त्र में उसका अधिकार

है। उनका उसी के द्वारा आत्म-कल्याण सम्पन्न होगा। परवर्ती काल के संकीर्ण स्मृतिकारों ने शूद्रों के प्रति जो अवैदिक आदेश जारी किया है, उसके लिये शंकर को जरा भी उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। वैदिक संन्यास में अधिकार न हो, तो भी उनके वैराग्य धारण करने के अधिकार में कोई बाधक नहीं हो सकता। वह भी तो वस्तुत: संन्यास ही है, या नहीं ! यदि आप कहें कि वेद में तो शूद्र-स्थानीय ऋषि तथा स्त्री-ऋषि का भी उल्लेख है, परन्तु गार्गी संन्यासिनी थीं। ऋषित्व तो अब भी हर व्यक्ति प्राप्त कर सकता है और कर भी रहा है। शूद्र जाति में भी अनेक सन्त-महात्मा हुए हैं, जो सर्वमान्य तथा पूज्य भी हैं। वेद तो पुस्तक के रूप में लिखे नहीं गये थे और वेदकालीन प्रथा भी समाज में प्रचलित नहीं है, इसलिये शंकर को तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के लिये उत्तरदायी न मानना ही उचित प्रतीत होता है। उस अल्प आयु में ही वे जो कुछ कर गये हैं, उसके लिये हम लोगों को उनके प्रति कृतज्ञ होना उचित है। समाज की व्यवस्था आदि के ऊपर उन्होंने सिर नहीं खपाया और इसके लिये उनके पास समय भी नहीं था। देखिये न, रामानुज ने अब्राह्मण को समान अधिकार दिया, परन्तु उनके अनुयाइयों ने ब्राह्मण-अब्राह्मण के बीच कैसे भेदभाव की सृष्टि की है। इसके लिये रामानुज को उत्तरदायी ठहराना क्या गलत नहीं होगा। शंकर के विषय में भी ऐसा ही है।

दूसरे संन्यासी बोले – ''जाने दीजिये। अब यह बताइये कि आप व्यक्तिगत रूप से क्या मानते हैं?''

संन्यासी – ''मनुष्य-मात्र का ही अधिकार मानता हूँ। वेद आदि सभी शास्त्रों में जाति-वर्ण से निरपेक्ष सबका समान अधिकार मानता हूँ। वेद मानव-मात्र के लिये हैं।''

दोनों – ''तब तो लगता है कि इस विषय में आपके साथ हम लोगों का कोई मतभेद नहीं है। अच्छा, क्या हम जान सकते हैं कि आपका गुरु-स्थान कहाँ है?

संन्यासी – ''अवश्य। बेलूड़ मठ।''

दोनों – ''ओ हो ! आप रामकृष्ण संघ के हैं ! तब तो आप हमारे ही हैं।''

यह कहते हुए वे संन्यासी को आलिंगन में जकड़कर खूब हँसने लगे। बोले – ''मजा आ गया ! आप इधर आये हैं, तो हम लोगों को सूचित क्यों नहीं किया? लौटते समय ऐसा मत कीजियेगा। हमें सूचित कीजियेगा और हम लोग आपको साथ ले जाकर मलाबार (केरल) के सभी आश्रम दिखायेंगे। ठीक है न !'' संन्यासी राजी हुआ। इनका नाम था – स्वामी निरंजनानन्द और स्वामी वागीश्वरानन्द। ये पूज्य स्वामी निर्मलानन्दजी के शिष्य थे।

कन्याकुमारी – अन्तिम भिक्षा

कन्याकुमारी में रहते समय जिन ब्राह्मण के घर से खाना आता था, उनके बारे में कुछ बातें। जिस दिन कन्याकुमारी से विदा लेनी थी, उस दिन वे आग्रह करके भिक्षा कराने के लिये अपने घर ले गये। वृद्ध ब्राह्मण कभी स्वयं संन्यासी का खाना पहुँचाने नहीं आये थे, उनका लड़का ही लाया करता था। लड़का थोड़ी-थोड़ी अंग्रेजी बोल लेता था, परन्तु वृद्ध आंग्ल भाषा बिल्कुल भी नहीं जानते थे।

खाने को बैठाने के बाद वृद्ध बोले – ''बड़े दु:ख की बात है कि संन्यासी को पैसे लेकर खिलाना पड़ा। परन्तु किया भी क्या जाय? वह सामने का मकान देखिये न, वह अन्नसत्र है। कुछ समय पूर्व तक वहाँ ब्राह्मण, साधु, संन्यासी, आगन्तुक सभी को राजा की ओर से खिलाया जाता था, दक्षिणा भी दिया जाता था – जो एक वेद जानता उसे चार आने, जो दो वेद जानता उसे आठ आने, जो तीन वेद जानता उसे बारह आने और जो चारों वेद जानता उसे एक रुपया मिलता था। इसके अतिरिक्त पर्व-उत्सव आदि के समय वस्त्र-आभरण भी दिया जाता था। किसी भी ब्राह्मण के घर खाना नहीं बनता था – सभी दोनों समय उस अन्नसत्र में ही भोजन करते थे। इतनी सुन्दर व्यवस्था थी। इसके बाद बिलायत में पढ़कर बैरिस्टर हुआ एक पाखण्डी अय्यर दीवान हुआ। उसने सब बन्द करा दिया। अब देखिये, आप संन्यासी हैं, तो भी आपको पैसे देकर एक ब्राह्मण के घर में भिक्षा ग्रहण करना पड़ा। ऐसे ही देना तो धर्म है, परन्तु क्या किया जाय – अभाव के कारण पैसे लेने को बाध्य हुआ। और आपको काफी तथा भोजन भेजने में जो देरी होती थी, उसका कारण यह था कि दुष्ट मेहतर झाड़ू लगाने देरी से आते हैं। उनके झाड़ू लगाकर चले जाने के बाद गोबर का जल छिड़ककर रास्ता आदि शुद्ध किया जाता है और उसके बाद ही घर से बाहर निकलकर स्नान आदि किया जा सकता है, चूल्हे में आग आदि जलायी जा सकती है। अब क्या किया जाय? कलयुग आ गया है !''

यह अन्तिम बात सुनकर संन्यासी बोल उठा – ''ऐसी हालत है क्या? आप लोगों के यहाँ तो कलियुग बड़ी देरी से आया है। उधर तो श्रीकृष्ण के देहत्याग के बाद ही, यही कोई पाँच हजार साल पहले ही कलियुग आ गया था !''

(वृद्ध का पुत्र दुभाषिये का कार्य कर रहा था। संन्यासी के भोजन के लिये नागरकोइल के सब-जज ब्राह्मण को पैसे देते थे, जो पूज्य स्वामी निर्मलानन्दजी के शिष्य थे।)

❖ (क्रमश:) ❖

सुख-संजीवनी

स्वामी सत्यरूपानन्द

महाभारत का युद्ध अभी-अभी समाप्त हुआ था। बचे हुये लोग अपने-अपने स्वजन-सम्बन्धियों के श्राद्धादि कर्म कर रहे थे। महात्मा भीष्म रणभूमि में अभी भी शरशय्या पर पड़े देहत्याग के लिये शुभ घड़ी की प्रतीक्षा कर रहे थे। इसी समय मृत्युंजयी भीष्म के पास शोकातुर युधिष्ठिर आये और अपने हृदय के शोक को दूर करने का उपाय पूछा। उनका हृदय दुख और ग्लानि से फटा जा रहा था। युधिष्ठिर के मन में यह बात शूल की भाँति चुभ रही थी कि उन्हीं के कारण यह भीषण नर-संहार हुआ तथा स्वयं पितामह भीष्म को शरशय्या का दारुण दुख सहना पड़ रहा था। जितने भी स्वजन-बन्धु-बान्धवों की मृत्यु हुई थी, जो महान् विनाश हुआ था, उसके लिये युधिष्ठिर अपने को ही कारण मानकर दु:ख से व्यथित हो रहे थे। इसीलिये वे पितामह के पास इस व्यथा से मुक्ति पाने का उपाय पूछने आये थे।

शोकरहित शरशय्याशायी पितामह ने युधिष्ठिर को माध्यम बनाकर मानव मात्र के लिये दुख-निवारण की जो संजीवनी प्रदान की है, वह आज भी हमें उपलब्ध है तथा उतनी ही प्रभावशाली है जितनी आज से सहस्रों वर्ष पूर्व थी, जब कि वह पितामह भीष्म के मुख से नि:सृत हुई थी।

किसी समय गौतमी नाम की एक विधवा ब्राह्मणी रहती थी। वह बड़ी सात्त्विक और साधु स्वभाव की थी। प्रभु की कृपा से जीवन-निर्वाह के लिये जो कुछ थोड़ा-बहुत मिल जाता, उसी से तृप्त रहकर वह अपना सारा समय ईश्वर की आराधना और शान्ति के साधन में लगाया करती थी। उसके एक पुत्र था। अभी वह किशोर ही था। बालक एक दिन कहीं बाहर खेल रहा था। पास में एक भयानक विषधर सर्प था। उसने बालक को डस लिया। कुछ ही क्षणों में बालक के प्राण पखेरू उड़ गये।

उसी गाँव में एक व्याध रहा करता था। उसका नाम था अर्जुनक। गौतमी ब्राह्मणी के प्रति उसकी बड़ी श्रद्धा थी। जब उसने देखा कि ब्राह्मणी का पुत्र एक सर्प के काटने से मर गया, तब उसे सर्प पर बड़ा क्रोध आया और वह फंदा लेकर उसे पकड़ने के लिये चल पड़ा। थोड़ी ही देर में उसने सर्प को फंदे में फँसा लिया। सर्प को बाँधकर वह गौतमी के पास आया और उससे कहने लगा, 'माँ ! इसी दुष्ट सर्प ने तुम्हारे पुत्र की हत्या की है। इसके द्वारा डसे जाने के कारण ही बालक की मृत्यु हुई है। अब तुम बताओ मैं इसे किस प्रकार का दण्ड दूँ। यदि तुम कहो तो मैं इसे जीवित जला दूँ, या इसके टुकड़े-टुकड़े कर इसका वध कर दूँ।''

किन्तु शान्ति की साधना में विरत गौतमी ने कहा, ''अर्जुनक, इसे छोड़ दे। तू अभी नहीं समझ पा रहा है। तुझे इस सर्प को नहीं मारना चाहिये। होनहार को कोई नहीं टाल सकता। इस सर्प का वध कर देने पर मेरा पुत्र तो जीवित नहीं हो जायेगा। फिर, यदि यह जीवित रहे तो तेरी क्या हानि होगी? मैं ब्राह्मणी हूँ। ब्राह्मण कभी क्रोध नहीं करते। वत्स ! तू भी कोमल बन और इस सर्प के अपराध को क्षमा कर दे। इसे छोड़ दे।''

व्याध ने साग्रह कहा, ''देवि ! इस दुष्ट से बहुतेरे मनुष्यों की रक्षा करनी होगी। यदि यह जीवित रहेगा तो अनेकों को डस लेगा। अत: इस सर्प को अवश्य ही मार डालना चाहिये।''

गौतमी ने पुन: समझाया, ''बेटाष्ट इस सर्प का वध करने में मुझे कोई लाभ नहीं दीख पड़ता, अत: तू इसे जीवित छोड़ दे।''

व्याध के बारम्बार आग्रह करने और उकसाने पर भी गौतमी ने सर्प को मारने की अनुमति न दी।

उसी समय पाश की पीड़ा से व्यथित सर्प ने कहा, ''व्याध ! इस बालक की मृत्यु में मेरा क्या दोष है? मैं तो पराधीन हूँ। मुझे तो मृत्यु ने विवश कर इस कार्य के लिये प्रेरित किया था। उसकी प्रेरणा से ही मैंने इस बालक को डसा है। अपने क्रोध या प्रतिशोध के भाव से नहीं। इसीलिये अपराध मृत्यु का है, मेरा नहीं। मैं निर्दोष हूँ अत: मैं वध्य नहीं हूँ।''

अपने ऊपर लांछन लगता देख मृत्यु देव भी वहाँ आकर उपस्थित हो गये। बहेलिये और सर्प को सम्बोधित करते हुये मृत्यु ने कहा, ''भुजंग ! इस बालक की मृत्यु के लिये न तो तू दोषी है और न मैं ही दोषी हूँ। काल की प्रेरणा से प्रेरित होकर ही मैंने तुझे इस बालक को डसने की प्रेरणा दी है। अत: हम दोनों ही इसकी मृत्यु के कारण नहीं हैं। क्योंकि मैं सर्वथा काल के अधीन हूँ।''

मृत्यु की बात सुनकर सर्प ने व्याध से कहा, ''व्याध ! तुमने भी तो मृत्यु की बात सुनी। मैं निर्दोष हूँ। मुझे बन्धन में डालकर कष्ट देना तुम्हारे लिये कहाँ तक उचित है?''

व्याध ने कहा, ''भुजंग ! मैंने तेरी और मृत्यु दोनों की बातें सुनी। किन्तु इससे तुम दोनों निर्दोष नहीं सिद्ध होते बल्कि इससे तो तुम्हारा दोष ही सिद्ध होता है। तुम दोनों

संयुक्त रूप से इस बालक की मृत्यु में कारण हो, अतः मृत्यु को धिक्कार है और तू वध्य है।''

मृत्यु ने व्याध को सम्बोधित करते हुये कहा, ''अर्जुनक, हम दोनों ही काल के अधीन हैं, इसलिये विवश हैं। हम तो उसके आज्ञानुवर्ती हैं, उसके आदेश का पालन मात्र करते हैं। यदि तुम ठीक-ठीक विचार करो, तो हम पर दोषारोपण नहीं करोगे। इस नाना रूपात्मक जगत् में जितनी भी चेष्टायें हो रही हैं, जितने भी क्रिया-कलाप हो रहे हैं, वे सभी काल की प्रेरणा से ही हो रहे हैं। अतः हम लोगों ने भी उसी काल की प्रेरणा से कार्य किया है। फिर भला हम कैसे अपराधी हो सकते हैं?''

अपनी गतिविधि के सम्बन्ध में विवाद एवं भ्रान्ति देख कर काल भी वहाँ आकर उपस्थित हो गये। उन्होंने व्याध को सम्बोधित करते हुये कहा, ''व्याध! इस बालक की मृत्यु के लिये न तो यह सर्प दोषी है, न मृत्यु और न मैं ही। हम तो किसी की भी मृत्यु में प्रेरक या प्रयोजक नहीं हैं। अजुर्नक, इस बालक ने जो कर्म किया है, वही इसकी मृत्यु का प्रेरक हुआ है। जीव अपने कर्मों से ही मरता है। दूसरा कोई उसके विनाश का कारण नहीं हो सकता। हम सभी कर्म के आधीन हैं। हमें अपने-अपने कर्मों के अनुसार ही फल प्राप्त होते हैं। हमारे अपने कर्म ही हमारे सुख-दुख के कारण हैं। अपने कर्मों के अनुसार ही मनुष्य अपने जीवन का गठन करता है तथा कर्मों के अनुसार ही हमारी मृत्यु का आयोजन होता है। अतः अर्जुनक! अब तुम स्वयं विचार करके देखो, भला हमलोग कैसे इस बालक की मृत्यु का कारण हो सकते हैं। बालक स्वयं अपने कर्मों के परिणाम स्वरूप अपनी मृत्यु का कारण हुआ है।'' काल द्वारा बताये गये इस तत्त्वज्ञान को सुनकर गौतमी ब्राह्मी को भी यह निश्चय हो गया कि मनुष्य का जीवन उसके अपने कर्मों द्वारा ही नियंत्रित और नियोजित होता है, अतः उसने व्याध से कहा, ''व्याध! न यह सर्प, न मृत्यु और न काल ही मेरे पुत्र की मृत्यु के कारण हैं। वह स्वयं अपने कर्मों के कारण सर्प द्वारा डसा जाकर मृत हुआ है। अर्जुन, मैंने भी ऐसे कर्म किये थे जिससे मुझे यह पुत्र-शोक प्राप्त हुआ है। किन्तु मुझे अब कोई दुख नहीं है क्योंकि अब मैं जान गयी कि मैंने अपने ही कर्मों के द्वारा अपने लिये इस प्रकार की घटनाओं का सृजन कर लिया है। तुम सभी से मेरा निवेदन है कि तुम लोग अपने-अपने गन्तव्यों को चले जाओ और मुझे शान्ति की साधना में तत्पर रहने दो।''

जय (महाभारत) का यह आख्यान मनुष्य-जीवन की एक मौलिक समस्या का हल प्रस्तुत करता है। जब कभी हम पर दुःख या विपत्ति आती है, हमारी इच्छा पूर्ण नहीं होती, हमारी आशाओं पर तुषारपात हो जाता है, हम असफल हो जाते हैं, तब हम अपने दुःख-कष्ट-असफलताओं आदि का कारण अपने से परे दूसरों में ढूँढ़ने लगते हैं। हमें लगता है कि अमुक परिस्थिति, घटना या व्यक्ति के कारण ही हमारे मनोरथ पूर्ण नहीं हो सके। इस प्रकार के विचार हमें परावलम्बी तथा परमुखापेक्षी बना देते हैं। हमारी आस्था विलुप्त हो जाती है और आत्म विश्वास डगमगा उठता है। हम संसार के झंझावात के थपेड़ों से अशान्त और दुखी हो जाते हैं। तथा हमारा जीवन एक दुखान्त नाटक की भाँति करुणा और विलाप में समाप्त होता है।

किन्तु दूसरी ओर, जिन व्यक्तियों की यह मान्यता है कि उन्हें जो भी कुछ प्राप्त हुआ है, वह सब उनके स्वयं के कर्मों का फल है, तो उनका जीवन-दर्शन ही बदल जाता है। आपत्तियाँ-विपत्तियाँ, असफलतायें-प्रतिकूलतायें उन्हें दुखी एवं निराश न बनाकर – पुरुषार्थी और उत्साही बना देती हैं। वे लोग यह भलीभाँति जानते हैं कि अपने दुःख-सुख के लिये वे ही उत्तरदायी हैं, अतः उनका विश्वास है कि अपने पुरुषार्थ से वे पुनः मनोनुकूल सुख-सुविधा, सफलता-शान्ति प्राप्त कर सकते हैं।

कर्म के इस रहस्य को समझ लेने पर मनुष्य किसी के दुख से दुखी नहीं होता और न किसी सुख से स्पृहा करता है। दुख-सुख दोनों में सम भाव रहने के कारण उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है और चित्त की चंचलता दूर हो जाती है। चित्त की चंचलता के दूर होते ही मनुष्य को परम सन्तोष का अनुभव होता है और सन्तोष को पाना ही तो मनुष्य-जीवन का लक्ष्य है। ❑❑❑
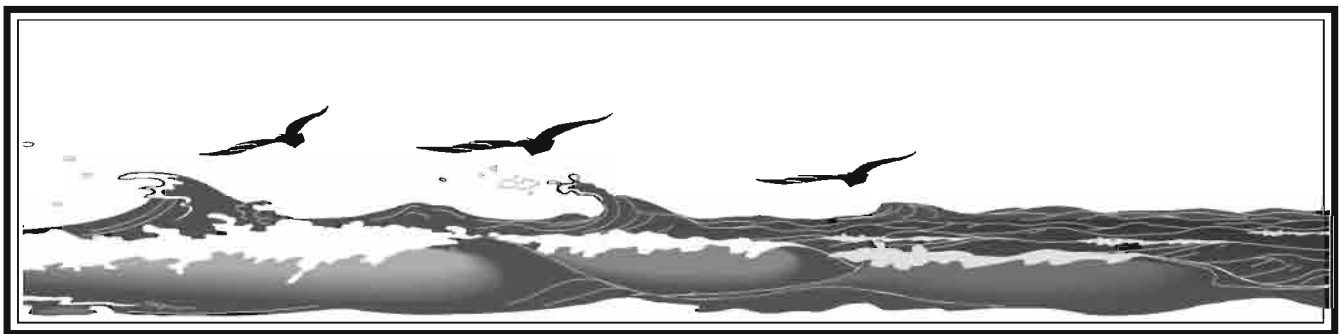
माइकेल मधुसूदन दत्त

स्वामी प्रभानन्द

(श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके सम्पर्क में आये और क्रमश: उनके अनुरागी, भक्त या शिष्य बने। विद्वान् लेखक रामकृष्ण मठ तथा मिशन के महासचिव हैं। आपने अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ उनकी प्रारम्भिक मुलाकातों का वर्णन किया है। इस शृंखला के अनेक लेखों के अनुवाद १९७८ से १९८८ के दौरान विवेक-ज्योति में प्रकाशित हुए थे। वर्तमान लेख First Meetings with Sri Ramakrishna नामक अंग्रेजी ग्रन्थ से स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा अनुवादित हुआ है। – सं.)

दक्षिणेश्वर के मन्दिर तथा उद्यान के मालिकों का उसके बगल में स्थित बारूदखाने के अंग्रेज मालिक के साथ एक मुकदमा होने वाला था। उन्होंने एक वकील से सलाह माँगी और वे वकील थे माइकेल मधुसूदन दत्त (१८२४-७३)। वकालत से उनकी कमाई क्रमश: बढ़ते हुए एक हजार रुपये मासिक से भी ऊपर पहुँच गयी थी, परन्तु उनकी ख्याति धीरे-धीरे घटती गयी। वस्तुत: वकालती में उन्हें वैसी सफलता नहीं मिली। 'हिन्दू पैट्रियाट' नामक अखबार ने अपने ३० जुलाई, १८७३ के अंक में लिखा – "वे कविता की गोद में पले हुए एक व्यक्ति थे और कानून की सूखी हड्डियों से जीवन-रस खींच पाना उनके लिये सम्भव न था।"[१] माइकेल एक धर्मान्तरित ईसाई थे। मुकदमे की प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त करने के लिये वे दक्षिणेश्वर आये।

वहाँ उन्हें अपने मेजबान और मथुरा मोहन विश्वास के ज्येष्ठ पुत्र द्वारिकानाथ से पता चला कि 'दक्षिणेश्वर के उन्मत्त पुजारी' के रूप में विख्यात् रामकृष्ण परमहंस वहीं निवास करते हैं। इस पर माइकेल ने परमहंस से मिलने की तीव्र इच्छा जतायी। द्वारकानाथ ने हृदयराम के पास सन्देश भेजा कि सुप्रसिद्ध कवि मधुसूदन परमहंस से मिलना चाहते हैं।

सम्भवत: वह सन् १८६८ ई.[२] का वर्ष और वर्षा ऋतु की एक सुबह थी।[३] कवि की आयु चौवालिस और श्रीरामकृष्ण की बत्तीस वर्ष थी। यद्यपि श्रीरामकृष्ण ऐसे किसी भी व्यक्ति से मिलने को इच्छुक रहा करते थे, जिसने किसी भी क्षेत्र में कोई महत्त्वपूर्ण कार्य किया हो, परन्तु किसी अज्ञात कारणवश उनकी कवि से मिलने की इच्छा नहीं हुई। उन्होंने अपने भानजे हृदयराम को कवि से मिलने भेजा। उन्हीं को श्रीरामकृष्ण समझकर कवि ने उनका अभिवादन किया। द्वारिकानाथ ने उन्हें बताया कि ये परमहंस नहीं, अपितु उनके भानजे हैं। द्वारिकानाथ ने हृदयराम से परमहंसदेव को वही ले आने का अनुरोध किया।[४]

श्रीरामकृष्ण ने पण्डित नारायण शास्त्री को बुला भेजा, जो उन दिनों चातुर्मास (श्रावण से कार्तिक तक का समय) के व्रत के रूप में 'दुर्गा-सप्तशती' के पारायण में लगे हुए थे। सूचना पाते ही नारायण शास्त्री तत्काल श्रीरामकृष्ण के पास आ पहुँचे। तीनों[५] एक साथ ही द्वारकानाथ के कमरे[६] में गये और व्यवस्थापक के दफ्तर के बगल में स्थित बड़े कमरे में कवि से मिले।

माइकेल का रंग साँवला था और नाक-नक्स की दृष्टि से सुन्दर थे। उनकी आँखें पानीदार तथा भावपूर्ण और दाढ़ी भलीभाँति छँटी हुई थी। अपनी वाक्चातुरी, हाजिर-जबाबी तथा मधुर व्यवहार के द्वारा वे अपने सम्पर्क में आनेवाले लोगों को सहज ही प्रभावित कर देते थे। कवि ने श्रीरामकृष्ण का ससम्मान स्वागत किया। द्वारिकानाथ ने भी बड़ी श्रद्धा के साथ उन्हें प्रणाम किया। परन्तु नि:सन्देह श्रीरामकृष्ण ने ही

१. जोगीन्द्रनाथ बसु, जीवन चरित (बँगला ग्रन्थ), ५म सं., पृ. ९२

२. माइकेल मधुसूदन १८६७ ई. के मार्च में यूरोप से लौटे और कलकत्ते के उच्च न्यायालय में अधिवक्ता के रूप में कार्य करने लगे। लगभग एक वर्ष बाद वे अपनी सफलता के उच्चतम स्तर पर पहुँच चुके थे। दूसरी ओर, २७ जनवरी, १८६८ को श्रीरामकृष्ण ने तीर्थ-यात्रा के लिये प्रस्थान किया और मई या जून १८६८ में वापस लौटे। अत: इस बात की काफी सम्भावना है कि श्रीरामकृष्ण के तीर्थयात्रा से लौटने के शीघ्र बाद ही माइकेल उनसे मिले थे। तथापि नगेन्द्रनाथ सोम के मतानुसार माइकेल १८६९ ई. में पहली बार दक्षिणेश्वर गये थे। (मधुस्मृति, सं. १३२७ बंगाब्द, पृ. ५५९)

३. गुरुदास बर्मन, श्री श्री रामकृष्ण चरित (बँगला ग्रन्थ), पृ. १०९; नारायण शास्त्री उन दिनों चातुर्मास्य से सम्बन्धित अनुष्ठान के अंग के रूप में 'दुर्गा-सप्तशती' का पारायण कर रहे थे। अक्षय कुमार सेन के मतानुसार नारायण शास्त्री उस समय श्रीरामकृष्ण के कमरे में बैठे हुए उनके उपदेश सुन रहे थे। (श्रीश्री रामकृष्ण पुंथी, ५म सं., पृ. २०३)

४. इस घटना का अधिकांश विवरण गुरुदास बर्मन के ग्रन्थ से लिया गया है। उन्हें ये जानकारियाँ निश्चित रूप से हृदयराम से प्राप्त हुई थीं। 'वचनामृत' तथा 'लीला-प्रसंग' के विवरण में थोड़ी भिन्नता है।

५. श्रीरामकृष्ण-लीला-प्रसंग (द्वितीय खण्ड, प्रथम संस्करण, पृ. ३१८) के मतानुसार श्रीरामकृष्ण ने पहले शास्त्रीजी को भेजा और थोड़ी देर बाद वे स्वयं गये। श्रीरामकृष्ण-वचनामृत (द्वितीय भाग, सं.१९९९, पृ. ५६८) के अनुसार नारायण शास्त्री भी श्रीरामकृष्ण के साथ थे। गुरुदास बर्मन (पृ. १०९-११) ने लिखा है कि श्रीरामकृष्ण अपने भानजे के साथ कवि से मिले और बाद में नारायण शास्त्री को बुला भेजा। वर्तमान लेखक का विचार है कि तीनों एक साथ गये थे।

६. यहाँ सन्दर्भ उस भवन से है, जिसे 'कूठीबाड़ी' कहते हैं। श्रीरामकृष्ण उसी भवन में रहते थे और १८६९-७० ई. में अक्षय का देहान्त होने तक उसी में निवास करते रहे।

पहले उनका अभिवादन किया। यहाँ हम लोग मान सकते हैं कि श्रीरामकृष्ण अवश्य ही धोती पहन रखी थी और उसका छोर सदा के समान सम्भवत: उनके कन्धे पर पड़ा हुआ था।

श्रीरामकृष्ण के बैठने के कुछ देर बाद ही माइकेल ने उनके मुख से कुछ धर्मोपदेश सुनने की इच्छा व्यक्त की।

श्रीरामकृष्ण बोले – "न जाने क्यों मेरी कुछ कहने की इच्छा नहीं होती, मानो किसी ने मेरी जिह्वा पकड़ ली हो !"

माइकेल विस्मित होकर बोले – "विजातीय धर्म स्वीकार कर लेने के कारण ही आप मुझसे नहीं बोलना चाहते !"

श्रीरामकृष्ण ने कहा – "ऐसी बात नहीं है, मैं बोलना तो चाहता हूँ, परन्तु मानो कोई मेरे सीने को दबाकर मुझे बोलने से रोक रहा है।"

माइकेल बड़े निराश हुए, पर वे श्रीरामकृष्ण के मनोभाव को समझने में असमर्थ रहे और अप्रसन्नतापूर्वक कहने लगे – "समझ गया कि आप मुझसे क्यों नहीं बोलना चाहते।"

श्रीरामकृष्ण के निर्देश पर उनके स्पष्टवादी शिष्य नारायण शास्त्री सामने आये। वे संस्कृत में बोले और माइकेल ने भी उसी भाषा में उत्तर दिया, परन्तु वे संस्कृत में भलीभाँति नहीं बोल पाते थे। उन्होंने स्वीकार किया कि अभ्यास की कमी से संस्कृत बोलते समय उनसे व्याकरण की भूलें हो जाती हैं।

इसके बाद वे बँगला में बातें करने लगे। यद्यपि नारायण शास्त्री का जन्म राजपुताना में हुआ था, तथापि दीर्घ काल तक दक्षिणेश्वर में निवास के कारण उन्हें बँगला भाषा का भी अच्छा ज्ञान हो गया था। बातचीत के दौरान शास्त्रीजी ने उनसे पूछा – "क्या आपको हिन्दू धर्म में विश्वास नहीं है?"

उत्तर मिला – "अवश्य है।"

– "तो फिर, महाशय, आपने हिन्दू धर्म क्यों छोड़ा?"

माइकेल ने अपने पेट की ओर इशारा करते हुए कहा – "इसके लिये।"

सम्भवत: एक अपरिचित के समक्ष अपनी जीवन-कथा व्यक्त करने की अनिच्छा के कारण ही उन्होंने अपने धर्मान्तरण की ऐसी व्याख्या दी। परन्तु वहाँ उपस्थित लोगों को ऐसा लगा कि वे कुछ छिपाते हुए हँसी में ऐसा नहीं कह रहे हैं, बल्कि अपने हृदय के सच्चे भाव को ही व्यक्त कर रहे हैं।[७]

नारायण शास्त्री एक निष्ठावान ब्राह्मण थे, अत: उन्होंने इस पर नाराजगी प्रकट करते हुए कहा – "ऐसे व्यक्ति से मैं क्या कहूँ, जिसने पेट के लिये अपने धर्म का ही त्याग कर दिया है !" इसके बाद वे मौन हो गये। शास्त्रीजी इस पर इतने असन्तुष्ट थे कि उन्होंने माइकेल के चले जाने के बाद भी उनके इस प्रकार स्वधर्म-त्याग की कटुतापूर्वक निन्दा की थी और श्रीरामकृष्णदेव के कमरे के पूर्व बरामदे की दीवाल पर उन्होंने कोयले से मोटे अक्षरों में लिख दिया था – "पेट के लिए स्वधर्म को त्याग देना अत्यन्त हीन बुद्धि का कार्य है।" यह काफी काल तक वहाँ आनेवाले आगन्तुओं के मन में कुतूहल उत्पन्न किया करता था।

बातचीत को ऐसी दिशा लेते देखकर श्रीरामकृष्ण को आगन्तुक के विषय में खेद का अनुभव हुआ। जिस भाव के कारण वे माइकेल से बोलने में असमर्थ रहे थे, वह अब जा चुका था; और वे अपनी मधुर तथा सुरीले कण्ठ से रामप्रसाद, कमलाकान्त तथा अन्य प्रमुख सिद्ध कवियों के कुछ भजन गाने लगे। उन्होंने गाया – (भावार्थ) –

बताओ भाई, मरने के बाद
मनुष्य का क्या होता है? ...

इसके बाद उन्होंने गाया –

ओ माँ ! सब कुछ तुम्हारी ही इच्छा से होता है।
हे तारा ! तुम इच्छामयी हो !
तुम अपने कर्म आप ही करती हो,
पर लोग बोलते हैं – 'मैं करता हूँ।'
माँ, तुम हाथी को कीचड़ में फँसा देती हो,
पंगु को गिरि लाँघने में समर्थ कर देती हो,
किसी को तुम इन्द्रत्व-पद दे देती हो,
तो किसी को अधोगामी बना देती हो ।।
अम्बे ! मैं यंत्र हूँ, तुम यंत्री हो;
मैं गृह हूँ, तुम गृहिणी हो; मैं रथ हूँ, तुम रथी हो।
माँ, तुम मुझे जैसा चलाती हो, वैसा ही चलता हूँ।[८]

श्रीरामकृष्ण भजन के द्वारा अपने श्रोताओं के मन में यह भाव दृढ़ कर देने का प्रयास करते थे कि ईश्वर से प्रेम करना ही पृथ्वी पर मानव-जीवन का उद्देश्य है।

भजन सुनकर माइकेल को सांत्वना मिली और वे थोड़ा बेहतर महसूस करने लगे। भजन समाप्त हो जाने के बाद माइकेल ने कहा – "ईश्वर ने मुझे ऐसा ही बनाया है; मैं भला क्या कर सकता हूँ !"

इसके बाद नारायण शास्त्री की ओर उन्मुख होकर वे बोले – "महाशय, क्या आप एक बार मेरे आवास पर आयेंगे?"

शास्त्रीजी ने साफ कह दिया – "मैं कभी दूसरों के घरों में नहीं गया। मुझे कुछ चाहिये ही नहीं, इसलिये मैं दूसरों के घर नहीं जाता।" इसके बाद थोड़े हल्के हृदय के साथ माइकेल ने दक्षिणेश्वर से विदा ली।

❑❑❑

७. स्वामी सारदानन्द, श्रीरामकृष्ण-लीला-प्रसंग, नागपुर, द्वितीय खण्ड, प्रथम संस्करण, पृ. ३१८-२०

८. श्रीम, श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, द्वितीय भाग, सं.१९९९, पृ. १११८

द्वितीय विदेश-यात्रा और महाराजा का देहान्त

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। उसी समय उनका खेतड़ी-नरेश अजीत सिंह के साथ घनिष्ठ सम्पर्क हुआ। तदुपरान्त वे महाराजा तथा कुछ अन्य लोगों की सहायता से अमेरिका गये। वहाँ से उन्होंने महाराजा को अनेक पत्र लिखे। कई वर्षों तक धर्म-प्रचार करने के बाद वे यूरोप होते हुए भारत लौटे। फिर भारत में प्रचार तथा सेवा-कार्य के दौरान उनका राजपुताना तथा खेतड़ी-नरेश के साथ कैसा सम्पर्क रहा, प्रस्तुत है उसी का सविस्तार विवरण। – सं.)

दो गुरुभाइयों की राजपुताना-यात्रा

हमने देखा कि महाराजा अजीतसिंह स्वामीजी को माँ के लिये मकान खरीदने हेतु दस हजार रुपये नहीं दे सके थे। स्वामीजी ने अन्य स्रोतों से भी इसके लिये प्रयास किया, पर उनका यह प्रयास तत्काल फलीभूत नहीं हो सका। १८९९ ई. के प्रारम्भ में स्वामीजी ने धर्मप्रचार तथा मठ के निर्माण तथा परिचालनार्थ धन-संग्रह हेतु अपने दो गुरुभाइयों – स्वामी सारदानन्द तथा स्वामी तुरीयानन्द को राजपुताना तथा गुजरात की यात्रा पर भेजा। दोनों ने कलकत्ते जाकर श्रीमाँ को प्रणाम किया और ७ फरवरी मंगलवार के दिन पंजाब मेल से प्रस्थान किया। पहले वे कानपुर, फिर आगरा और वहाँ से जयपुर गये। वहाँ वे सरदार हरिसिंह के अतिथि रहे और ऊँटगाड़ी में चढ़कर रामनिवास देखा। उन्होंने गोविन्दजी, गोपीनाथजी तथा गलता-तीर्थ का भी दर्शन किया। फिर वहाँ से आमेर जाकर यशोरेश्वरी देवी का दर्शन किया। जयपुर में ही उन्होंने खेतड़ी-नरेश अजीतसिंह से भेंट की। राजा ने एक रात दोनों को निमंत्रित करके भोजन कराया और अहमदाबाद तक के लिए द्वितीय श्रेणी के दो टिकट खरीद दिये।'' इसके बाद वे लोग आबू रोड होते हुए अहमदाबाद तथा लिमड़ी गये और ४ मार्च तक वहाँ राज-अतिथि के रूप में निवास किया। लिमड़ी से गोण्डाल होते हुए मोर्वी पहुँचने पर भगिनी निवेदिता के पत्र से उन्हें पता चला कि विगत २८ मार्च को स्वामी योगानन्द ने देहत्याग कर दिया है। वहाँ से वे भावनगर गये। वहीं उन्हें कलकत्ता लौटने का निर्देश देते हुए स्वामीजी का तार मिला। तदनुसार ३ मई को वे बेलूड़ मठ लौट आये।[१]

स्वामीजी की द्वितीय विदेश-यात्रा

कुछ माह बाद स्वामीजी दुबारा यूरोप-अमेरिका की यात्रा पर जाने की तैयारी करने लगे। १४ जून, १८९९ को उन्होंने महाराजा को पुन: एक पत्र लिखा –

''प्रिय मित्र, मैं यहाँ जिस अवस्था में हूँ – चाहता हूँ कि श्रीमान् भी उसी अवस्था में रहें। अभी आपको मित्रता और प्रेम की अत्यन्त आवश्यकता है। मैंने कई सप्ताह पहले आपको एक पत्र लिखा था, किन्तु आपका कोई संवाद नहीं मिला। आशा है, आपका स्वास्थ्य बहुत अच्छा चल रहा होगा। मैं इसी महीने की २० तारीख को फिर इंग्लैंड की यात्रा कर रहा हूँ। मुझे इसकी भी आशा है कि समुद्र-यात्रा से शायद कुछ लाभ हो। आप सभी संकटों से संरक्षित रहें और समस्त शुभ की छाया आप पर सदा बनी रहे।

आपका, ***विवेकानन्द***

पुनश्च – जगमोहन को मेरा स्नेह, अलविदा![२]

माँ के लिये मकान

२० जून को स्वामीजी, भगिनी निवेदिता तथा स्वामी तुरीयानन्द के साथ यूरोप-अमेरिका की यात्रा पर चल पड़े। जलयान में भी उनके मन में माँ की सेवा हेतु कुछ करने की तीव्र इच्छा बनी हुई थी। जलयान से ही २८ जून (१८९९) को भगिनी निवेदिता ने एक पत्र में लिखा है कि कैसे वे अपनी माँ के बारे में बोलने लगे – उनके कारण उनकी माँ को कितना कष्ट उठाना पड़ा और वे अपने जीवन के बाकी दिन माता की सेवा में बिताना चाहते हैं। ''ओह! इतने वर्ष मुझे न जाने क्या हो गया था! उच्चाकांक्षा का पागलपन!... परन्तु मैं महत्त्वाकांक्षी कभी नहीं रहा। प्रसिद्धि तो मेरे कन्धे पर लाद दिया गया था।''[३]

अपनी माँ के लिये मकान के प्रसंग में ही, इंग्लैंड पहुँचने के बाद **६ अगस्त १८९९** को वे श्रीमती ओली बुल के नाम पत्र में लिखते हैं – ''जहाँ तक दुश्चिन्ताओं का प्रश्न है, अभी उनकी कोई कमी नहीं है। जिन चाची से आप मिली थीं, उन्होंने मुझे ठगने की बड़ी गहरी योजना बना रखी थी। उन्होंने तथा उनके लोगों ने ६००० रुपयों या ४०० पौण्ड

---

१. स्वामी सारदानन्द, स्वामी प्रभानन्द, नागपुर, प्र.सं., पृ. १२६-७,१३८; जीवन्मुक्त तुरीयानन्द, स्वामी जगदीश्वरानन्द, प्र.सं., पृ. ४१

२. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ७, पृ. ३७०

३. अचेना अजाना विवेकानन्द (बँगला), शंकर, सं.२००३, पृ.७४; Letters of Sister Nivedia, S.P.Basu, Kol., 1892, Vol. I, P. 172

में मुझे एक मकान बेचने का प्रस्ताव रखा और मैंने उन पर विश्वास करके अपनी माँ के लिये उसे खरीद लिया। परन्तु यह सोचकर वे लोग मुझे कब्जा नहीं दे रहे थे कि मैं एक संन्यासी हूँ और संकोच के कारण मकान पर बलपूर्वक अधिकार करने के लिये कचहरी में नहीं जाऊँगा।

कार्य के लिये मुझे आप तथा अन्य लोगों ने जो कुछ दिया था, उसमें से मैंने एक रुपया भी खर्च नहीं किया है। कैप्टेन सेवियर ने इस विशेष इच्छा के साथ मुझे ८००० रुपये दिये थे कि इससे मैं अपनी माँ की सहायता करूँ। लगता है कि यह धन भी बरबाद हो गया। इसके सिवा मेरे परिवार या मेरे व्यक्तिगत व्यय के रूप में कुछ भी खर्च नहीं हुआ है। मेरे भोजन आदि का खर्च खेतड़ी के राजा दे रहे हैं और प्रति माह उसके आधे से अधिक भाग मठ को चला गया। चूँकि मेरा इस तरह ठगा जाना उचित नहीं है, अत: यदि ब्रह्मानन्द (चाची के खिलाफ) मुकदमे पर कुछ व्यय करते हैं, तो जीवित रहने पर उसकी भरपाई कर दूँगा।...[४]

अपने मातृऋण के प्रसंग में ही उन्हें श्री शंकराचार्य की याद हो आयी। उनका उल्लेख करते हुए उन्होंने कैलीफोर्निया से **१७ जनवरी १९००** को श्रीमती ओली बुल के नाम पत्र में लिखा – "अब मुझे यह स्पष्ट दिखायी दे रहा है कि मठ-सम्बन्धी सारी चिन्ताओं से मुझे अपने को मुक्त करना होगा और कुछ समय के लिये माँ के पास जाना होगा। मेरी वजह से उन्होंने बहुत कष्ट उठाया। उनके अन्तिम दिन को व्यवधान रहित बनाने के लिये मुझे प्रयत्न करना चाहिये। क्या आप जानती हैं कि महान् शंकराचार्य को भी ऐसा ही करना पड़ा था। माँ के अन्तिम दिनों में उनको भी अपनी माँ के पास लौटना पड़ा था।... केवल आर्थिक दृष्टि से ही कुछ कठिनाई है।... अस्तु, मुझे अवश्य प्रयत्न करना होगा, क्योंकि मुझे यह पूर्वाभास हो चुका है कि मेरी माँ अब अधिक दिनों तक जीवित न रह सकेंगी।... यह स्पष्ट हो रहा है कि १८८६ में अपनी माँ को छोड़ना एक महान् त्याग था और आज अपनी माँ के पास लौट जाना उससे भी बड़ा त्याग है। शायद जगदम्बा की यही इच्छा है। ... ***विवेकानन्द***"[५]

७ मार्च १९०० को वे सैनफ्रांसिस्को से पुन: श्रीमती ओली बुल को लिखते हैं – "जहाँ तक मेरी अपनी माँ का प्रश्न है, मैं उसके पास लौट रहा हूँ – अपने और उसके अन्तिम दिनों के लिये। मैंने न्यूयार्क में जो १००० डॉलर रखे हैं, उससे ९ रुपये महीने आयेंगे; फिर उसके लिये थोड़ी-सी जमीन भी खरीद ली है, जिससे ६ रु. प्रति माह मिल जायेंगे; उसके पुराने मकान से समझिये कि ६ रु. महीने मिल जायेंगे। जिस मकान के बारे में मुकदमा चल रहा है, उसको हिसाब में नहीं लेता, क्योंकि अभी तक उस पर कब्जा नहीं मिला है। मैं, मेरी माँ, मेरी नानी और मेरा भाई आसानी से २० रु. महीने में गुजारा कर लेंगे।... श्रीरामकृष्ण के कार्य में मेरा जो स्थान था, उसको मैंने आपको समर्पित कर दिया है। मैं उसके बाहर हूँ। अपनी बेचारी माँ के लिये मैं आजीवन एक यातना बना रहा। उसकी पूरी जिन्दगी एक अविच्छिन्न संकट-स्वरूप रही। यदि सम्भव हुआ, तो मेरा यह अन्तिम प्रयास होगा कि उसे कुछ सुखी बनाऊँ। मैंने पहले से सुनिश्चित कर रखा है। मैं सारे जीवन जगदम्बा की सेवा करता रहा। अब वह सम्पन्न हो चुका; अब मैं उनका काम नहीं कर सकता। उनको अन्य कार्यकर्ता ढूँढ़ने दीजिये – मैं तो हड़ताल कर रहा हूँ।" – ***विवेकानन्द***[६]

उपरोक्त एक हजार डॉलर स्वामीजी ने श्री लेगेट के पास जमा कर रखे थे। इसका कुछ अंश उनके राजयोग ग्रन्थ के अंग्रेजी संस्करण की बिक्री से और कुछ खेतड़ी के महाराजा द्वारा उनके व्यक्तिगत व्यय के लिये दिये गये रुपयों का बचा हुआ अंश था। वे इस राशि को अपनी माता, नानी, भाइयों तथा स्वयं पर भी खर्च करने हेतु सुरक्षित रखना चाहते थे।[७]

चाची से मकान खरीदने की योजना सफल न होने के बाद स्वामीजी ने सोचा था कि अपनी माँ के लिये गंगा के किनारे एक छोटा घर बनवायेंगे; मार्च में लिखे उनके दो-एक पत्रों में इसका उल्लेख है, परन्तु धनाभाव के कारण यह भी नहीं हो सका। अगले पत्र में वे इसका उल्लेख करते हैं।

१८ मई १९०० को वे सैन्फ्रांसिस्को से श्रीमती ओली बुल को लिखते हैं – "श्रीमती सेवियर ने मुझे परिवार के लिये ६००० रुपये दिये थे; जो मेरे चचेरे भाई, चाची आदि के बीच वितरित हो गये। मकान खरीदने के लिये ५००० रुपये मठ से उधार लिये गये थे।... गंगाजी के किनारे मकान बनाने का विचार धनाभाव के कारण मैं बहुत पहले ही छोड़ चुका हूँ। पर मेरा कुछ पैसा कलकत्ते में तथा कुछ लेगेट-दम्पत्ति के पास है; और यदि आप एक हजार रुपये और दे दें, तो मेरा व्यक्तिगत खर्च चलाने के लिये और मेरी माँ के लिये भी एक कोष तैयार हो जायेगा (क्योंकि आप जानती हैं कि मैंने मठ से कभी पैसे नहीं लिये)। कृपया सारदानन्द को उस छोटे मकान की योजना को छोड़ देने के लिये लिखें।"[८]

स्वामीजी को रुपये आना बन्द

राजा अजीतसिंह स्वामीजी की माता को उनके भ्रमण के

४. Complete Works of Swami Vivekananda, Vol. 9, P. 119; समकालीन भारतवर्ष, खण्ड ५, पृ. ४८३

५. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ७, पृ. ४०४-०५

६. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ८, पृ. ३०६-७

७. Swami Vivekananda in the West, Vol.5, 1987, P. 352

८. Complete Works, Vol. 9, P. 137-38

दिनों (१८९१) से ही प्रति माह सौ रुपये भेजते थे और १८९९ ई. में स्वामीजी के व्यक्तिगत व्यय हेतु उन्हें भी प्रति माह १०० रुपये भेजने लगे। परन्तु श्रीमती ओली बुल के नाम स्वामीजी के ७ अप्रैल (१९००) के पत्र से ज्ञात होता है कि महाराजा ने फरवरी या मार्च १९०० से स्वामीजी को प्रति माह १०० रु. भेजना बन्द कर दिया था। उपरोक्त पत्र में स्वामीजी लिखते हैं – "आज मठ से आये पत्र में मुझे सूचित किया गया है कि खेतड़ी के राजा ने रुपये भेजना बन्द कर दिया है। खैर, माँ की इच्छा ! राजा अनेक वर्षों तक मेरे प्रति बड़े कृपालु रहे। मैं उन्हें तथा उनके परिवार को हृदय से आशीर्वाद देता हूँ। इस समय मैं इतना निश्चल तथा शान्त हूँ, जैसा पहले कभी नहीं रहा।"[९]

स्वामीजी को यह राशि भेजना बन्द होने के कारण पर किसी-किसी लेखक ने विचार किया है, पर सम्भवतः इसका मूल कारण था दुर्भिक्ष। पूरा राजस्थान उन दिनों एक भयंकर अकाल की चपेट में था, जो इतिहास में 'छपनिया अकाल' के रूप में प्रसिद्ध है। जब पूरे राज्य की जनता ही भूखों मर रही हो, तो राजा के लिये रुपये भेज पाना कैसे सम्भव हो सकता था। तथापि सम्भवतः उन्होंने स्वामीजी की माँ को रुपये भेजना बन्द नहीं किया था। आगे इस अकाल के दौरान स्वयं राजा तथा रामकृष्ण मिशन द्वारा किये गये राहत-कार्य का विवरण प्रस्तुत किया जायेगा।

स्वामीजी द्वारा महाराजा अजीतसिंह को लिखा हुआ एक पत्र और भी मिलता है, यह पत्र स्वामीजी की ग्रन्थावली में दो भिन्न तिथियों (दिसम्बर १९०० तथा नवम्बर, १८९८) के साथ दो स्थानों पर छपा है। मठ, बेलूड़ (जिला हावड़ा) से स्वामीजी लिखते हैं – "महाराज, आप तथा कुमार साहब का स्वास्थ्य अच्छा जानकर प्रसन्न हूँ। जहाँ तक मेरे स्वास्थ्य का प्रश्न है, मेरा हृदय कमजोर हो गया है। मैं नहीं समझता कि जलवायु-परिवर्तन से कोई लाभ होगा। क्योंकि पिछले चौदह वर्षों से मैं लगातार तीन महीने तक कहीं ठहरा होऊँ – मुझे याद नहीं। मेरा ख्याल है कि यदि कई महीने तक एक ही स्थान पर रहने का संयोग सम्भव हो, तो इससे कुछ लाभ हो सकता है। बहरहाल, मुझे इसकी चिन्ता नहीं है। जो भी हो, मुझे लगता है कि मेरा इस जीवन का 'कार्य' समाप्त हो गया है। अच्छे और बुरे, सुख और दु:ख की धारा में मेरी जीवन-नौका थपेड़े खाती हुई अब तक चली। एक बड़ी शिक्षा जो मुझे मिली है, वह यह कि जीवन दु:ख के सिवा और कुछ नहीं है। माँ ही जानती है कि क्या अच्छा है। हम सभी कर्म के हाथों में हैं – उसी के आदेशानुसार हम चलते हैं – अस्वीकार नहीं कर सकते। जीवन में एक ही तत्त्व है – जो किसी भी कीमत पर अमोल है – वह है प्रेम। अनन्त प्रेम ! असीम आकाश जैसा विस्तीर्ण, समुद्र की भाँति गम्भीर; जीवन का यह एक महान् लाभ है। इस तत्त्व को प्राप्त करनेवाला सौभाग्यवान है। आपका, ***विवेकानन्द***

अभी हम स्वामीजी के व्यक्तिगत जीवन तथा उसमें राजा अजीतसिंह की भूमिका पर चर्चा कर रहे हैं। कालक्रम से, यहाँ किशनगढ़ के राहत-कार्य का प्रसंग आना चाहिये, परन्तु वह प्रकरण विस्तृत होने के कारण उसे इसके बाद लेंगे।

महाराजा का देहान्त (१८ जनवरी, १९०१)

१८ जनवरी १९०१ को एक दुर्घटना में राजा अजीतसिंह का देहान्त हो गया। पं. झाबरमल्ल जी शर्मा लिखते हैं – "१९०० ई. में स्वास्थ्य-सम्पादन के लिये राजाजी बहादुर ने सकुटुम्ब काश्मीर की यात्रा की थी – और लौटते समय आगरे में ठहर गये थे।... १८ जनवरी सन् १९०१ को बाइसिकल पर सवार होकर राजाजी बहादुर सैर करते हुए सिकन्दरे पहुँचे और फाटक के पास साइकल छोड़कर दृश्य देखने के लिये एक मीनार पर चढ़ गये। देव-दुर्विपाक से उस मीनार पर से गिर जाने के कारण उनकी मृत्यु हुई। उनका शव, विशेष प्रबन्ध करके स्पेशल ट्रेन द्वारा मथुरा भेजा गया और वहीं दाह-क्रिया सम्पन्न हुई। राजाजी की इस आकस्मिक मृत्यु के कारण देश भर में शोक छा गया।" महाराजा की हिन्दी जीवनी में लिखा है – "हवा के एक प्रचण्ड झोंके से अजितसिंह ८६ फीट नीचे फर्श पर आ गिरे और इसी से उनकी मृत्यु हुई।"[११]

१८ जनवरी, १९०१ ई. को ही स्वामीजी ने मायावती से बेलूड़ मठ के लिये वापसी यात्रा की और उसी दिन राजा अजीतसिंह का निधन हुआ। मायावती की दैनन्दिनी में २३ जनवरी १९०१, बुधवार को लिखा हुआ है – "आगरा के लाला बैजनाथ से यह सूचित करते हुए एक पत्र मिला कि १८ तारीख को सिकन्दरा के एक मीनार से गिर जाने के फलस्वरूप खेतड़ी के महाराजा का देहान्त हो गया है।"

२४ जनवरी (१९०१) को स्वामीजी बेलूड़ मठ लौटे। मार्ग में ही उन्हें महाराजा के देहान्त की सूचना मिल गयी थी। इस पर सन्तप्त होकर उन्होंने श्रीमती ओली बुल को अपने **२६ जनवरी** के पत्र में खेदपूर्वक सूचित किया था, "आपकी उत्साहपूर्ण बातों के लिए असंख्य धन्यवाद ! इसी समय मुझे उनकी विशेष आवश्यकता थी। नयी शताब्दी आ पहुँची है, परन्तु अन्धकार दूर नहीं हुआ है, बल्कि वह तो और भी गहन होता जा रहा है। मैं श्रीमती सेवियर से मिलने

९. Swami Vivekananda in the West, Vol.6, 1987, P. 89

१०. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ७, पृ. ३५६; Complete Works, Vol.5, P. 143 and Vol. 9, P. 151

११. खेतड़ी का इतिहास, पृ. १०१; आदर्श नरेश, पृ. २७८; तथा महेन्द्रनाथ दत्त लिखित 'जीवनेर घटनावली', भाग २, पृ. १८६-७

मायावती गया था। मार्ग में ही खेतड़ी नरेश के आकस्मिक निधन का संवाद मिला। पता चला है कि वे अपने व्यय से आगरे के किसी पुराने स्थापत्य की मरम्मत करा रहे थे। कार्य की प्रगति देखने के लिए वे किसी गुम्बद पर चढ़े हुए थे। गुम्बद का एक हिस्सा गिर पड़ा और इसके साथ-ही-साथ उनकी मृत्यु हो गयी।'' इसी विषाद की रेखा उनके **१८ मई** के पत्र में भी दीख पड़ती है। उस दिन उन्होंने मेरी हेल को लिखा था, ''कुछ महीने हुए खेतड़ी के राजा की गिर पड़ने से मृत्यु हो गयी। इस प्रकार देखो, इस समय मेरे चारों ओर अँधेरा-ही-अँधेरा है और मेरा अपना स्वास्थ्य भी काफी बिगड़ा हुआ है।'' मेरी को ही लिखित उनके **५ जुलाई** के पत्र में भी राजा की मृत्यु का उल्लेख है; ''जिन पुराने मित्रों को तुम जानती हो, वे प्राय: सब मर चुके हैं – खेतड़ी के राजा भी। उनकी मृत्यु सिकन्दरा में सम्राट् अकबर की समाधि के एक ऊँचे मीनार से गिर पड़ने से हुई। आगरे के इस प्राचीन मकबरे की वे अपने खर्च से मरम्मत करवा रहे थे। कार्य का निरीक्षण करते हुए एक दिन उनका पाँव फिसल गया और वे कई सौ फीट नीचे गिर पड़े।''[१२]

राजा की मृत्यु से स्वामीजी को लगे सदमे के विषय में स्वामी अखण्डानन्द लिखते हैं – ''राजाजी की मृत्यु के थोड़े ही समय बाद स्वामी विवेकानन्दजी ने इहलीला संवरण की। राजाजी के वियोग का उनके हृदय में बड़ा दु:ख था और उस दु:ख को उन्होंने कई बार हम लोगों के सामने व्यक्त किया था। वास्तव में राजा अजितसिंह जी, स्वामीजी के अनुरक्त भक्त और एक प्रधान सहायक-स्तम्भ थे।''[१३]

माँ को रुपये आना बन्द

हमने देखा कि १८९९ ई. में राजपुताने में आये भीषण अकाल के समय महाराजा अजीतसिंह ने स्वामीजी के रुपये भेजना बन्द कर दिया था; और सम्भवत: कुछ काल के लिये उनकी माता श्रीमती भुवनेश्वरी देवी को भी भेजी जानेवाली सौ रुपये प्रतिमाह की राशि को भी स्थगित कर दिया था। बाद में यदि उसे पुन: शुरू भी किया गया हो, तो १८ जनवरी, १९०१ ई. को महाराजा के देहान्त के बाद तो वह निश्चित रूप से ही बन्द कर दिया गया। श्री वेणीशंकर शर्मा ने लिखा है कि प्रतिमाह सौ रुपये की राशि स्वामीजी की माता को आजीवन (१९११ ई. तक) भेजी जाती रही,[१४] पर उन्होंने अपने इस दावे के समर्थन में कोई भी तथ्य या प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया है। उल्टे उपलब्ध तथ्यों के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि राजा के देहान्त के बाद वहाँ की सत्ता में आये उलट-फेर के फलस्वरूप मुंशी जगमोहन लाल को वहाँ की नौकरी से निकाल दिया गया और चूँकि वे ही स्वामीजी, उनके परिवार तथा राजा के बीच एक कड़ी का कार्य करते थे, उनके जाने के बाद उसके बाद से स्वामीजी तथा उनके परिवार का खेतड़ी-राज्य से कोई नाता न रहा।[१५] खेतड़ी की नौकरी छूटने के बाद मुंशी जगमोहनलाल लगभग एक-डेढ़ वर्ष कलकत्ते में रहे और उस दौरान वे कई बार स्वामीजी से मिलने बेलूड़ मठ भी आये थे।

स्वामीजी की माता के आर्थिक अभाव का सूचक उन्हीं के हाथ का लिखा हुआ एक पत्र उपलब्ध है। (जो बेलूड़ मठ -म्यूजियम में प्रदर्शित है।) श्रीमती भुवनेश्वरी देवी ८ अक्तूबर १९०१ को लिखती हैं – ''परम कल्याणीय श्रीमान नरेन्द्रनाथ बाबाजी, चिरजीवेषु। तीन हजार रुपये देने होंगे। बेटा, रुपये भेजो। और राखाल बाबू मठ में गया है या नहीं? निमाई बोस के विषय में क्या किया? सुनती हूँ कि ८ दिन के बाद वकीली दफ्तर बन्द हो जायेगा और वह मुकदमा करेगा। मुकदमा करने पर साढ़े तीन हजार रुपये देने होंगे और अभी देने से कम में हो जायेगा। उसका आदमी कह रहा था कि एक साथ न दे पाने से ४ किश्तों में दीजिये। तुम यदि अभी न दे सको, तो मेरे लिये जो है, उसमें से कुछ देकर रफा कर डालो। और रामकृष्णपुर में नवगोपाल घोष के यहाँ जगह खाली है। तुम्हारे एक पत्र लिख देने पर (महेन्द्र की) नौकरी लग जायेगी, परन्तु इस विषय में मैं नहीं कह सकूँगी। वह मुझे परेशान कर रहा है।... मेरा आशीर्वाद लेना। हम सब यहाँ सकुशल हैं। – **तुम्हारी माँ**

इसके अतिरिक्त स्वामीजी के छोटे भाई महेन्द्रनाथ दत्त के एक पत्र से ही ऐसा ही संकेत मिलता है। उन्होंने २४ अप्रैल १९०२ को स्वामी सदानन्द के नाम एक पत्र में लिखा था, ''मुझे जो सूचना मिली है, उससे लगता है कि मुझे अपनी माँ की देखभाल करनी होगी; और उनकी परिस्थितियाँ ठीक नहीं हैं। अब मुझे धन कमाना होगा और उन्हें सुखी रखना होगा। वैसे मेरे लिये मध्य एशिया जाने का एक अच्छा मौका है; और मेरा स्वभाव तथा आकांक्षा भी ऐसी है कि मैं यात्रा करते हुए प्राचीन काल के लोगों तथा उनके आचार-व्यवहार से सम्बन्धित अद्‌भुत वस्तुओं का अवलोकन करूँ, परन्तु कुछ काल के लिये मुझे ऐसे विचारों को त्याग देना होगा। अब तक मेरा विश्वास था कि मेरे परिवार की हालत ठीक है, अत: मैं बिना किसी भय या चिन्ता के तूफान की भाँति एक देश से दूसरे देश का भ्रमण करता रहा। परन्तु अब मैं देख रहा हूँ कि परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं...।''[१६]

❖ (क्रमश:) ❖

१२. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ८, पृ. ३६८, ३७४ तथा ३८०
१३. खेतड़ी-नरेश और विवेकानन्द, १९२७, की 'प्रस्तावना', पृ. ५
१४. Swami Vivekananda : A Forgotten Chapter, 1982, p. 170
१५. Swami Vivekananda in the West, Vol.6, 1987, P. 92
१६. महेन्द्रनाथ दत्त : जीवन ओ मनीषा (बँगला ग्रन्थ), सं. सुनील बिहारी घोष तथा शंकरी प्रसाद बसु, १९७०, कोलकाता, पृ. २२-३

माँ के सानिध्य में

लक्ष्मी मणि देवी

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

उस समय हम लोग दक्षिणेश्वर के नौबतखाने में रहते थे। ठाकुर के सोने-बैठने के कमरे में लोगों के रहने पर वे अपने नाक के पास उंगलियों से एक गोल आकृति दिखाकर माँ के विषय में संकेत करते – माँ के नाक में नथ थी और नौबतखाने को वे पिंजरा कहा करते। हम दोनों को 'शुक-सारी' (तोता-मैना) के रूप में सम्बोधित करते थे। इधर माँ का नाम भी तो 'सारदा' था। उनके कमरे में माँ-काली का प्रसाद – फल, फूल, मिठाई आदि आने पर वे (अपने नाक के पास नथ की वैसी आकृति बनाकर) रामलाल दादा से कहते – "अरे, पिंजरे में तोता-मैना हैं, जरा फल-मूल, चना-वना दे आ।" बाहर के लोग सोचते कि शायद सचमुच ही पक्षी होंगे। प्रारम्भ में मास्टर महाशय की भी ऐसी ही धारणा थी।

विभिन्न स्थानों से बहुत-सी महिलाएँ आकर माँ के साथ कितनी ही सारी बातें कहतीं! बीच-बीच में ये सारी बातें ठाकुर के कानों में भी पड़ती। वे माँ से कहते – "देखो, वे सब आकर हंसपुकुर के चारों ओर घूमती फिरती है और मुझे देखकर जाने के बाद आपस में कितनी सारी बातें करती हैं। मुझे सब भनक मिलती है। कहती हैं – 'इनका बाकी सब तो अच्छा है, परन्तु ये जो रात में पत्नी के साथ नहीं रहते, यही ठीक नहीं है।' उनकी इस बातचीत तथा सलाहों पर तुम लोग ध्यान मत देना। वे कहेंगी कि मेरा मन फिराने के लिये दवा आदि करो। देखना, उन लोगों की बात सुनकर तुम लोग मुझे कोई दवा आदि मत खिला देना। मेरे पास सब है। परन्तु मैंने भगवान के लिये अपनी सारी शक्ति उन्हीं को दे रखी है।" माँ हल्के भाव से कहतीं – "नहीं-नहीं, यह कैसी बात!"

उन दिनों नौबतखाने के उस छोटे-से कमरे में किस प्रकार रहना हो जाता था, अब मैं उसे सोचकर विस्मित रह जाती हूँ। सब ठाकुर की ही लीला थी। माँ, मैं तथा एक अन्य लड़की।[१] फिर कभी-कभी कलकत्ते से कोई भक्त-महिला भी आकर उसी में रहतीं। कभी-कभी कामारहाटी की गोपाल-की-माँ भी आकर रहतीं। उनका शरीर काफी विशाल था और कमरा था छोटा-सा! लेकिन उसी में कितना कुछ – एक विशाल गृहस्थी चलती रहती। हम लोगों की सारी चीजें। खाना बनाने का सारा साज-सामान – तेल, नमक, लाल मिर्च, तेजपत्ता, छौंक, मसाला, चलनी, कुरेदनी, बरतन-हण्डी, राशन आदि – सब कुछ रहता। फिर पीने के पानी का घड़ा और ठाकुर का पेट खराब रहता था, अत: उनके लिये कई तरह के पथ्यों की व्यवस्था रहती।

विवाह के बाद जब मैं विधवा के रूप में पिता के घर लौटी, उसके बाद माँ ने एक दिन मुझसे कहा था – "धर्म-कर्म जो भी करना हो, सब घर में बैठकर करना। बाहर तीर्थ-वीर्थ में अकेली मत घूमती रहना। कौन जाने किसके पल्ले पड़ जाओ! अपनी चाची के साथ रहना। बाहर बड़े खतरे हैं।" उस समय मैं परम रूपवती युवती थी। स्त्रियाँ निर्लज्ज, बेशर्म हो, ठाकुर यह जरा भी सहन नहीं कर पाते थे। ...

लम्बी आयु तक जीवित रहना भी उन्हें बिलकुल पसन्द नहीं था। उन्होंने कहा था – "लोग यही कहेंगे न कि रानी रासमणि के काली-मन्दिर में एक 'बूढ़े' साधु रहते हैं! यह बात मुझसे सहन नहीं होगा।" माँ बोलीं – "ऐसी बात क्यों कहते हो? क्या अभी से तुम्हारे जाने का समय आ गया? और वृद्ध होकर यहाँ रहने पर क्या लोग यह नहीं कहेंगे कि रासमणि के काली मन्दिर में एक वयस्क साधु रहते हैं!"

वे बोले – "हाँ, लोग मुझे वयस्क आदि कितना कुछ कहेंगे और क्या! चण्डीदास की कहानी जानती हो न! वे बहुत दिनों तक जीवित रहे। बूढ़े हो गये थे। बचपन में वे अपढ़ तथा अज्ञानी थे। लिखना-पढ़ना बिल्कुल नहीं जानते थे। उनके पिता एक दिन खूब नाराज होकर उनकी माँ से बोले – 'चण्डी को अब खाना मत देना। उसके लिये कुछ मत बनाना, केवल चार-चार कोयले देना।' एक दिन चण्डी भोजन करने बैठे। पत्तल में एक किनारे कुछ कोयले भी रखे हुए थे। भोजन के बाद चण्डी ने पूछा, 'माँ, यह क्या दिया

१. बाद में भवतारिणी नामक इस 'बालिका' का विवाह 'बसुमती साहित्य मन्दिर' के संस्थापक श्रीरामकृष्ण के गृही शिष्य उपेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के साथ हुआ और ये 'बसुमती-माँ' के नाम से प्रसिद्ध हुईं। आगे उनकी स्मृति-कथा भी प्रकाशित होगी। – सम्पादक

है? माँ बोली, 'तू कुछ पढ़ना-लिखना तो करता नहीं, इसलिये तेरे पिता ने तुझे खाने की जगह कोयले देने को कहा है। लेकिन मैं माँ होकर कैसे तुम्हें केवल वही खाने को दूँ?' इतना कहकर माँ झर-झर आँसू बहाने लगी।

"इसके बाद अभिमान वश एक दिन चण्डी घर से निकल पड़े। माँ बासुली देवी को अपने मन का दु:ख सुनाने लगे। माँ ने दर्शन दिया और बोलीं, "तेरा अज्ञान दूर हो जायेगा और तेरा मधुर गीत सुनकर सभी लोग आश्चर्यचकित रह जायेंगे।' धीरे-धीरे सचमुच ही चण्डीदास के मन में संगीत का प्रादुर्भाव हुआ। उनके कण्ठ से देवदुर्लभ स्वर-लहरी फूटने लगी। स्त्रियाँ तालाब में नहाने आया करती थीं, वे उसी के किनारे बैठे अपने गायन में तल्लीन हो जाते। उनके गीत खूब मधुर होते। दोष देखनेवाले कहते – 'चण्डी का चरित्र बिगड़ गया है।' क्रमश: उस देश के जमींदार-राजा भी चण्डी का गायन सुनकर मुग्ध हो गये। वे उन्हें खूब आदर के साथ अपनी राजधानी में ले गये। अब चण्डीदास को कोई दु:ख-कष्ट न रहा – खाने-पीने की कोई चिन्ता नहीं रही। चण्डीदास का बड़ा नाम-यश हुआ। उनकी बदनामी दूर हो गयी। वे बहुत दिनों तक जीवित रहे। जब वे वृद्ध हो गये, तो भी आस-पड़ोस की स्त्रियाँ उनके पास आया करती थीं। इधर उनका तो मधुर भाव था! परन्तु वे आकर वृद्ध को सहज भाव से 'पिता' कहकर सम्बोधित करतीं। परन्तु इससे वृद्ध चण्डीदास को बड़ा दु:ख होता। यह बात उनके मन को स्वीकार्य नहीं थी। वे बड़े दु:ख के साथ कहते – (गीतांश का भावार्थ) – 'चण्डीदास कहते हैं कि देवी बासुली का आशीर्वाद पाकर मैं एक बड़े भयंकर ताप में जल रहा हूँ – युवती स्त्रियाँ आकर मेरे सिरहाने बैठती हैं, परन्तु मुझे 'पिता' कहकर सम्बोधित करती हैं।'

"तो भाई, मैं भी यह 'बूढ़ा' नाम सहन नहीं कर सकता।"

कथा सुनकर सभी लोग हँसते-हँसते लोटपोट हो गये।

* * *

(दक्षिणेश्वर में) श्रीरामकृष्ण बीच-बीच में दादी (अपनी माता चन्द्रमणि देवी) से कहते – "माँ, तुम जरा अपने गाँव के समान अच्छी तरह छौंक आदि देकर दो-एक सब्जियाँ बनाओ न! खाने की बड़ी इच्छी होती है।"

दादी उसी प्रकार की सब्जियाँ बना देतीं। ठाकुर खाकर बड़े आनन्दित होते। दादी का देहावसान हो जाने के बाद श्रीमाँ ठाकुर का भोजन प्रतिदिन उनके कमरे में दे जातीं। ठाकुर बीच-बीच में माँ से विनोदपूर्वक कहते, "भाग्य में ही वृक्ष की छाया लिखी थी, नहीं तो इस प्रकार खाने को कौन देता? मेरे लिये कौन पकाता? जिसके शरीर पर पहनने के कपड़े तक नहीं टिकते, उसका विवाह होना!"

ठाकुर कहते – "स्त्रियाँ क्या लेकर रहेंगी? खाना पकाना अच्छा है। मन ठीक रहता है। सीताजी भोजन पकाती थीं। स्वयं लक्ष्मीजी खाना पकाकर सबको खिलाया करती थीं। द्रौपदी पकाती थीं। पार्वती पकाती थीं।"*

* 'रामकृष्ण-सारदामृत' (बँगला ग्रन्थ), स्वामी निर्लेपानन्द, करुणा प्रकाशनी, कलकत्ता १९६८, पृ. ३-१०। पहले भी लक्ष्मीमणि देवी की स्मृतिकथा छप चुकी है। जो अंश वहाँ नहीं हैं, यहाँ केवल उन्हीं को संकलित किया गया है। – सं.

J J J J J J J J J J J

सारा अग-जग राम का

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

राम-नाम ही सत्य जगत में,
और सभी कुछ झूठा है।।

राम रमा है अणु-कण-क्षण में,
सारा अग-जग राम का,
जो न राम में रमा कदाचित्
वह जीवन किस काम का?
नहीं राम को जाना जिसने,
भाग्य उसी का रूठा है।
राम-नाम ही सत्य जगत में,
और सभी कुछ झूठा है।।

राम-नाम रस जो भी पीता,
वह रहता अलमस्त है,
जहाँ राम का हुआ अनादर,
वहाँ सिद्धि सब ध्वस्त है।
पान करो अविराम, अरे मन,
यह तो अमृत अनूठा है।
राम-नाम ही सत्य जगत में,
और सभी कुछ झूठा है।।

आदि-मध्य क्या अन्त, सभी में
छिपा नहीं है राम क्या?
राम-कृपा के बिना कभी भी
हो सकता शुभ काम क्या?
जिसने तजा राम को जग में
उसको मिला अगूँठा है।
राम-नाम ही सत्य जगत में,
और सभी कुछ झूठा है।।

कर्मयोग की साधना (१)

स्वामी भजनानन्द

(गीता में कहा गया है – "किं कर्म किं अकर्म इति कवयोऽप्यत्र मोहिता: – कर्तव्य क्या है और क्या नहीं, इस विषय में विवेकवान लोग भी भ्रमित हो जाया करते हैं।" भारत में कर्मनिष्ठा तथा ज्ञाननिष्ठा का विवाद अति प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। स्वामी विवेकानन्द ने वर्तमान युग के मनुष्य के कर्तव्य के रूप में 'शिव ज्ञान से जीव सेवा' नामक एक नवीन कर्मयज्ञ का प्रवर्तन किया है। वर्तमान लेखमाला में इस कर्मतत्त्व की ही मीमांसा की गयी है और बताया गया है कि किस प्रकार निष्काम कर्म हमें जीवन के चरम लक्ष्य – आत्मा-ईश्वर या ब्रह्म की उपलब्धि करा सकता है। इसका प्रकाशन पहले अंग्रेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के अंकों में और तदुपरान्त रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द विश्वविद्यालय, बेलूड़ मठ से पुस्तक के रूप में हुआ। वहीं से 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लिये इसका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत है। – सं.)

१. सिसिफस का निरन्तर परिश्रम

सिसिफस यूनानी पुराणकथा का एक रोचक चरित्र है, जो एलुस का पुत्र तथा कोरिन्थ का राजा था। वह ऐसा धूर्त था कि उसने देवताओं को भी बारम्बार धोखा दिया था और एक बार तो उसने यमराज तक को शृंखलाबद्ध कर दिया था। देवतागण अन्तत: उसे हेडिस भेजने में सफल हुए, जहाँ उसके बुरे कर्मों की सजा के रूप में, उसे एक बड़े पत्थर को लुढ़काकर पहाड़ के ऊपर पहुँचाने का कार्य दिया गया। वह पत्थर चोटी के पास पहुँचकर बारम्बार उसके हाथों से फिसल जाता और फिर नीचे आ जाता। कहते हैं कि अब भी वह उस पत्थर को पहाड़ की चोटी तक पहुँचाने का निरर्थक प्रयास कर रहा है।

क्या हमें प्राय: ऐसा महसूस नहीं होता कि जीवन अनन्त कर्मों की एक ऐसी ही शृंखला है, सो सिसिफस के परिश्रम के समान ही निरर्थक है? दिन-पर-दिन हम कर्म करते हैं, तथापि लगता नहीं कि हम कहीं पहुँच रहे हैं। हमारा हृदय चिरन्तन शान्ति, सुरक्षा तथा सुख के लिये आकुल रहता है और हम इनकी प्राप्ति के लिये कठोर परिश्रम करते रहते हैं। परन्तु लक्ष्य सर्वदा हमसे दूर होता-सा प्रतीत होता है और कर्म के साथ अपरिहार्य रूप से जुड़ी हुई नीरसता तथा ऊब से बचने के लिये हमें नित नये-नये मनोरंजन के साधन ढूँढ़ने पड़ते हैं। इस प्रकार हम कार्य से छुटकारा तथा अवकाश पाने के मूल उद्देश्य से कर्म करते रहते हैं; तथापि शीघ्र ही यह बात हमारी समझ में आ जाती है कि विषय-परिवर्तन तथा मनोरंजन उस सच्ची पूर्णता की प्राप्ति के सस्ते विकल्प मात्र हैं। सामान्यत: कर्म को ही हमें पूर्णता तक पहुँचा देना चाहिये, परन्तु बहुधा यह हमें खोखला बना देता है और निरर्थकता की उपलब्धि कराता है।

यह पूरी तौर से एक मानवीय समस्या है और वर्तमान जगत् के लिये एक संकट का रूप धारण कर लेनेवाली इस समस्या का कारण क्या है? इसका उत्तर यह है कि सभ्य मनुष्य को बेहतर शरीर के अतिरिक्त भी कुछ आवश्यकताएँ होती हैं, जिन्हें प्राय: मूल्य (या आदर्श) कहा जाता है और कर्म या कार्य-पद्धति इन जरूरतों की पूर्ति में असमर्थ रहती है। हम सभी के भीतर सत्य, शिव तथा सुन्दर की अनुभूति करने की एक नैसर्गिक कामना है; और इन अनुभूतियों को ज्ञान, कला तथा प्रेम के रूप में अभिव्यक्त करने की हममें एक रचनात्मक आकांक्षा होती है। कर्म तभी सार्थक हो सकता है, जब यह उच्चतर अनुभूति का साधन तथा आत्म-अभिव्यक्ति की प्रक्रिया का रूप धारण कर लेता है।

कारखाने का एक मजदूर, जो नट-बोल्ट फिट करने में ही अपना सारा समय लगाता है, वह अपने उस कर्म को धन तथा छुट्टी अर्जित करने का साधन मात्र मानता है। उसका कार्य वस्तुत: उसका अपना नहीं, बल्कि मालिक का है। जब वह कर्म करता है, तो वह स्वयं से विच्छिन्न हो जाता है और वह ऐसा कुछ करने के लिये छुट्टी पाने को उत्सुक हो उठता है, जो उसे पसन्द है, ऐसा कुछ जो उसके अपने रचनात्मक प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति हो – ऐसा कुछ जो उसे अपने स्वयं के विभाजित अन्तरात्मा से पुन: जोड़ सके। एक सच्चे कलाकार या अनुसन्धान में व्यस्त एक महान् वैज्ञानिक की बात बिल्कुल अलग है। इनके लिये कर्म न केवल आजीविका का साधन है, अपितु उनकी उच्चतर क्रियात्मक प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति का साधन भी है। कर्म उनकी अन्तरात्मा को विभाजित नहीं करता और इस कारण ऐसे लोगों को छुट्टी या मनोरंजन की उतनी आवश्यकता नहीं होती। कर्म अपने आप ही उन्हें उनकी पूर्णता के लक्ष्य की ओर ले जाता है।

कर्म तथा आत्म-विच्छिन्नता की यह समस्या आध्यात्मिक जीवन में और भी महत्तर रूप धारण कर लेती है। आध्यात्मिक जीवन में साधक को सत्य के प्रति पूर्ण समर्पण करना पड़ता है; और यदि उसके जीवन का एक अंश पूर्ण से विच्छिन्न हो तथा किसी ऐसे कार्य में व्यस्त हो, जिसका बाकी के साथ कोई सम्बन्ध ही न हो, तो उसका समर्पण पूर्ण नहीं हो सकता। आध्यात्मिक जीवन का मुख्य संघर्ष उच्चतर चेतना की प्राप्ति के लिये होता है; और यह तभी सफल हो सकता है, जब पूरा व्यक्तित्व भलीभाँति समन्वित हो जाय और प्रत्येक चेष्टा सीधे चेतना के लिये संघर्ष से जुड़ी हो। जब

व्यक्ति की शारीरिक तथा मानसिक ऊर्जाओं को एकत्रित करके आध्यात्मिक खोज में नियोजित किया जाता है, केवल तभी जीवात्मा समस्त बाधाओं को रौंदते हुए उच्चतर चेतना के किले में प्रविष्ट हो सकती है।

दूसरे शब्दों में, कार्य चाहे जिस भी प्रकार का हो, उसे आध्यात्मिक साधना बन जाना चाहिये, अन्यथा वह जीवात्मा पर एक बोझ बन जायेगा और साधक की आध्यात्मिक ऊर्जा की बरबादी करेगा। विशेषकर आज के युग में जब कर्म एक अपरिहार्य सामाजिक आवश्यकता बन चुका है, व्यक्ति की आध्यात्मिक खोज में सफलता – काफी कुछ कर्म को उस खोज के साथ समन्वित करने की उसकी क्षमता पर निर्भर करती है। एक कलाकार या एक वैज्ञानिक की तुलना में एक साधक का लक्ष्य उच्चतर होता है।

२. कर्म क्या है?

'कर्म' शब्द को बहुधा 'Work' (कार्य या क्रिया) शब्द का पर्याय माना जाता है, परन्तु इन दोनों शब्दों का हमेशा एक ही अर्थ नहीं होता। कोई भी गति, जिसमें ऊर्जा का स्थानान्तरण या रूपान्तरण होता है, उसे 'कार्य' कहते हैं। मोटरकार कार्य करता है, झरना भी कार्य करता है, परन्तु क्या उन्हें हम 'कर्म' कह सकते हैं? – नहीं, क्योंकि ये जड़ प्रक्रियाओं द्वारा सम्पन्न होनेवाले मशीनी कार्य मात्र हैं। किसी 'कार्य' को 'कर्म' कहलाने के लिये उसे किसी जीवन्त प्राणी द्वारा सम्पन्न किया जाना चाहिये।

तथापि जीवन की सभी क्रियाएँ कर्म नहीं कहला सकतीं। हमारे शरीर की करोड़ों कोशिकाएँ चुपचाप अपना कार्य किये जा रही हैं, परन्तु हम यह नहीं कह सकते कि वे कर्म कर रही हैं। हमारी जानकारी के बिना ही हमारे शरीर में होनेवाले रक्त का संचरण, खाद्य का पाचन, श्वास-प्रस्वास तथा अन्य क्रियाओं को केवल तभी तक कर्म कहा जा सकेगा, जब तक कि इनके पीछे रहकर इन्हें अपना समझनेवाला कोई कर्ता उपस्थित हो। अत: कर्म का दूसरा लक्षण या वैशिष्ट्य है 'कर्तृत्व' – कर्ता के रूप में 'अहं' की चेतना। यदि यह सक्रिय अहं-चेतना न हो, कोशिकाओं, अंगों तथा निम्नतर जीवों की क्रियाएँ – विराट् ब्रह्माण्डीय जीवन-धारा का अंश तथा विराट् पुरुष के समष्टि कार्य में योगदान-कर्त्री मानी जा सकती हैं, जिनका गीता में कई स्थानों पर उल्लेख है।

कर्म – किसी फल का अनुभव करने की इच्छा से स्वयं को कार्य में नियोजित करता है। कर्म का प्रत्येक रूप आनन्द की आशा पर आधारित होता है। इसे भोक्तृत्व कहते हैं और यह कर्म की एक अन्य विशेषता है। इच्छाएँ ही इस प्रकार की आशा जगाती हैं; और मन सभी इच्छाओं का आधार है। वस्तुत: सभी सामान्य मानवीय गतिविधियाँ, मन की बाह्य अभिव्यक्तियाँ मात्र हैं।

फिर, कर्म में नैतिक उत्तरदायित्व भी निहित है। कर्ता क्रिया तो करता ही है, साथ ही उनके लिये स्वयं को जिम्मेदार भी समझता है। उत्तरदायित्व की अनुभूति के लिये दो चीजें होना आवश्यक है – चुनने की स्वाधीनता और सार्वभौमिक नैतिक नियमों द्वारा नियंत्रित होना। हमारी सारी क्रियाएँ नैतिक नियमों तथा आदर्शों से जुड़ी हैं और हमारे द्वारा किया हुआ प्रत्येक कार्य, सोचा गया प्रत्येक विचार – एक नैतिक चयन, निर्णय तथा इच्छा का फल है – भले ही हम सर्वदा इस तथ्य से अवगत न हों।

सेमेटिक अर्थात् यहूदी, ईसाई तथा इस्लाम धर्मों में नैतिकता इस बात पर आधारित है कि मनुष्य यदि उनके द्वारा निर्दिष्ट नैतिक आदेशों का पालन करेगा, केवल तभी वह ईश्वर द्वारा रक्षित होगा। दूसरी ओर भारतीय धर्मों में नैतिकता कर्म के नियमों पर आधारित है, जिसके अनुसार प्रत्येक कार्य का एक सार्वभौमिक प्रभाव होता है और वह फल के रूप में कर्ता के पास लौटकर उसका जन्म, जीवन तथा परिवेश निर्धारित करता है। परन्तु दोनों ही दृष्टिकोणों का तात्पर्य यह है कि मनुष्य के प्रत्येक कार्य का जो प्रभाव तत्काल दिखाई देता है, अन्ततोगत्वा उससे बहुत अधिक होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवन से सम्बन्ध, कर्ता के साथ समायोजन, इच्छाओं का प्रभाव, नैतिक उत्तरदायित्व और फल की अनिवार्यता – ये कुछ विशेषताएँ ही कर्म को यांत्रिक कार्य से अलग करती हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने इन्हें सभी कर्मों के पाँच कारणों के रूप में बताया है –

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ।। १८/१४

– शरीर, मन तथा वाणी के द्वारा मनुष्य जो भी उचित या अनुचित कर्म आरम्भ करता है, उसके ये पाँच ही कारण होते हैं – शरीर रूपी आधार, कर्ता-रूपी अहंकार, साधन-रूपी मन तथा इन्द्रियाँ, प्राणों के कर्मरूपी विभिन्न चेष्टाएँ और पाँचवाँ संस्कार-समूह रूपी उनके अधिष्ठातृ-देवता।

जो भी कार्य इन पाँच कारणों से सम्बन्ध नहीं रखता, उसे कर्म नहीं कहा जा सकता। यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है, क्योंकि कर्मयोग इन्हीं तत्त्वों को नकार कर बन्धनों को तोड़ डालता है और एक साधना का रूप धारण कर लेता है।

यहाँ पर एक प्रश्न उठ सकता है। क्या कर्म आध्यात्मिक व्याकुलता तथा परा-अनुभूति का एक साधन बन सकता है? साधक को एक ओर तो अपनी शारीरिक जरूरतों तथा सामाजिक दायित्वों की पूर्ति के लिये कर्म करने पड़ते हैं; और दूसरी ओर उसे शारीरिक तथा सामाजिक सीमाओं के

ऊपर भी उठना पड़ता है। क्या इन दोनों प्रकार की चेष्टाओं का आपस में समायोजन किया जा सकता है? हर साधक को अपने लिये स्वयं ही इन प्रश्नों का समाधान करना होगा। शताब्दियों तक यह भारत के कुछ महानतम मनीषियों के चिन्तन का विषय बना रहा है और सर्वप्रथम उन्हीं के विचारों का अध्ययन लाभकारी होगा। इसके बाद हम पुन: इसी प्रश्न पर लौटकर एक नयी दृष्टि से विचार करेंगे।

३. प्रवृत्ति और निवृत्ति – कर्म और कर्मयोग

अत्यन्त प्राचीन काल में ही हिन्दू संस्कृति ने जीवन के दो मार्गों की खोज की थी – धर्म अर्थात् प्रवृत्ति का मार्ग और मुक्ति अर्थात् निवृत्ति का मार्ग। व्यक्ति अपने स्वभाव या योग्यता के अनुसार इन दोनों में से कोई भी एक मार्ग चुन सकता है। दोनों मार्गों का मुख्य भेद उनके लक्ष्यों में है; पहले का लक्ष्य है – स्वर्गिक सुख प्राप्त करना और दूसरे का लक्ष्य है – ईश्वरोपलब्धि अथवा जन्म तथा दु:खों से मुक्ति। दोनों ही मार्गों में कर्म का स्थान है। परन्तु जहाँ प्रथम मार्ग में कर्म का प्राबल्य है, वहीं दूसरे मार्ग में इसे सबसे नीचे का स्थान दिया गया है।

प्रवृत्ति मार्ग में किया गया कर्म विशुद्ध सत्कर्म है। ये दो प्रकार के होते हैं – इष्ट (वैदिक नित्यकर्म) और पूर्त (कूप खनन आदि जनहित के कर्म)। ये दोनों ही प्रकार के कर्म एक विशेष उद्देश्य से किये जाते हैं और वह है मृत्यु के बाद स्वर्ग-प्राप्ति तथा वर्तमान एवं अगले जन्म में सुखद जीवन। (परन्तु) निवृत्ति मार्ग में किये गये कर्म में ऐसा कोई भी स्वार्थपूर्ण उद्देश्य नहीं होता। इसी को कर्मयोग कहते हैं और इसका चरम लक्ष्य मुक्ति या पूर्ण मोक्ष है। 'कर्म' के हमारे इस अध्ययन में, कर्म तथा कर्मयोग का यह भेद ही ध्यान रखने योग्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बिन्दु है।

चार प्रमुख योगों में यह कर्मयोग ही सर्वाधिक भ्रान्त रूप से समझा गया तथा दुरुपयोग किया गया 'योग' है। एक तरह की भ्रान्त धारणा तो यह है कि इसे केवल कर्म तक ही सीमित कर दिया जाता है। बैल के समान कार्य करना या यथेच्छा कार्य करना कर्मयोग नहीं है। अधिकांश लोग जो कार्य करते हैं, वह नाम-यश तथा विषय-भोगों की प्राप्ति के लिये, अर्धचेतन अवस्था में, कामनाओं के वशीभूत होकर निरर्थक दौड़-धूप मात्र होता है; और इसे कर्मयोग कहना योग के महान् आचार्यों का अपमान है। सांसारिक सफलता कर्मयोग का लक्ष्य नहीं है। यह मूलत: एक आध्यात्मिक साधना है, जिसका लक्ष्य मुक्ति है।

यह सोचना, एक अन्य भ्रान्त धारणा है कि कर्मयोग के अभ्यास के लिये किसी पूर्व-तैयारी या योग्यता की आवश्यकता नहीं है। कर्मयोग का अर्थ है – ऐसा कर्म, जो आत्म-चेतना, कामना-हीनता तथा ईश्वर-केन्द्रिक भाव से सम्पन्न हो। अन्य योगों के साथ इसका भेद केवल इसके बाह्य रूप में ही है और इसकी आन्तरिक मानसिक प्रक्रियाएँ अन्य योगों से ज्यादा भिन्न नहीं हैं। कुछ हद तक मन की पवित्रता, आन्तरिक जागृति तथा प्रशिक्षण प्राप्त किये बिना कर्मयोग का अभ्यास असम्भव है। आधुनिक युग में कर्मयोग के दो महान् शिक्षक – महात्मा गाँधी तथा विनोबा भावे के चरित्रों का यदि कोई अध्ययन करे, तो स्पष्ट रूप से उसकी समझ में आ जायेगा कि यह कोई सहज तथा आसान कार्य नहीं है।

कर्मयोग कोई सीधा मार्ग भी नहीं है। अन्य योगों के समान ही यह भी कई स्तरों से होकर गुजरता है। इसका पहला स्तर है – ***फल-संकल्प-त्याग***, जिसमें साधक अपने कर्मों के फल के प्रति आसक्ति को त्यागने का प्रयास करता है। दूसरे स्तर पर – ***कर्म-संकल्प-त्याग*** अर्थात् कर्म के प्रति आसक्ति का त्याग हो जाता है। इसमें साधक न तो अधिक कार्य ढूँढ़ता है और न ही उनसे दूर भागता है। उसे जो भी कार्य प्राप्त हुआ है, वह उन सभी को पूरा करने का प्रयास करता है, परन्तु अपने कर्म की धारा को निर्धारित करने का प्रयास नहीं करता। इसके बाद आता है – ***कर्तृत्व-संकल्प-त्याग*** अर्थात् कर्तापन के बोध का त्याग। वह 'अहं'-चेतना को नहीं त्यागता, क्योंकि उसके बिना कोई भी कार्य कर पाना असम्भव है; शरीर की कुछ स्वचालित यांत्रिक क्रियाएँ इसकी अपवाद हैं। परन्तु यह जानकर कि ईश्वर द्वारा प्रेरित होकर प्रकृति ही सारा कार्य करती है, वह स्वयं को वास्तविक कर्ता समझना बन्द कर देता है।[२]

कर्मयोगी निरन्तर कर्म करता रहता है। वह केवल संकल्प या इच्छा का त्याग करता है, कर्म का नहीं। वह अपनी इच्छा को क्रमश: बाह्य जगत् से, अपने शरीर से तथा अपने अहंकार से पृथक् कर लेता है। कर्मयोग का लक्ष्य जगत् को नहीं, अपितु स्वयं को बदलना है। उपरोक्त तीन स्तर कर्मयोगी की चेतना के क्रमश: रूपान्तरण के द्योतक हैं। यह आन्तरिक रूपान्तरण ही साधारण कर्म को योग में परिणत कर देती है, क्योंकि कर्मयोग का अर्थ कोई असाधारण कार्य करना नहीं है।

❖ (क्रमश:) ❖

सन्दर्भ-सूची – १. भगवद्-गीता, अध्याय १८, श्लोक १४-१५
२. 'अहं'-चेतना के बने रहने के कारण ही श्री शंकराचार्य ने कर्म तथा (अद्वैत) ज्ञान के सह-अस्तित्व को अस्वीकार किया है। इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है – रामानुज का श्रीभाष्य, २/३/३३।
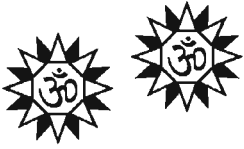
पत्रों में स्वामीजी की स्मृतियाँ (३)
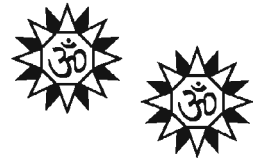
जोसेफिन मैक्लाउड

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामीजी के काल में जन्म लिया तथा उनका पुण्य सान्निध्य प्राप्त किया। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आनेवाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत संस्मरण अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ से गृहीत तथा अनुवादित हुआ है। – सं.)

स्वामीजी के ग्रन्थों को यूरोप की अन्य भाषाओं में प्रकाशित कराने के प्रयास में जोसेफिन ने कुछ उठा न रखा। वे लिखती हैं – "एडगर ली मास्टर्स ने मैकमिलन (वह प्रकाशक जिसने स्वामीजी के योग-विषयक चारों ग्रन्थों को छापने से मना कर दिया था) को लिखा है, 'मेरा विश्वास है कि इन ग्रन्थों के आत्मसात् करने में ही विश्व का आध्यात्मिक भविष्य निर्भर करता है।' इसलिये उन लोगों ने मुझे बिना कोई कारण बताये स्वामीजी की किताबें पुनर्विचार के लिये माँगी हैं; और आज मैंने उन्हें भेज दिया है। तो यह जीवन क्या रोमांचकारी नहीं है ! और क्या इसमें हमारी महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं होगी !" (९ जून, १९१९)।

"आज मैंने Inspired Talks (देववाणी) की हस्तलिखित प्रति हवाई डाक से टोनी सुसमैन को भेजी है। मैं चाहती हूँ कि वह उसे पढ़े, निरीक्षण करे और जहाँ उचित लगे, वहाँ सुधार करके उसका टंकण करा ले और वही भेज दे, जहाँ उसने अपने ज्ञानयोग के अनुवाद को भेजा है। इसे जर्मन भाषा में प्रकाशित करने के लिये मैं पहले ही जीन हर्बर्ट को पैसे दे चुकी हूँ और इस प्रकार स्वामीजी की चार छोटी पुस्तकें पूरी हो जायेंगी। मैं नहीं जानती कि इसे कैसे और कहाँ किया जाय, परन्तु मैंने उसकी जिम्मेदारी सँभालने तथा स्वामीजी की इन सभी पुस्तकों को जर्मन भाषा में प्रकाशित करने हेतु जीन हर्बर्ट द्वारा माँगे गये १६०० डॉलर उन्हें चुका दिये हैं। टोनी ने मुझसे पूछा है कि वह स्वामीजी के लिये आगे क्या काम करे ! मैं चाहती हूँ कि जितना जल्दी हो सके, वह इसे कर डाले। यह अनुवाद श्रीमती वर्लिनर ने किया है, परन्तु वे सोचती हैं कि टोनी द्वारा किया गया ज्ञानयोग का अनुवाद इसकी तुलना में काफी उच्च कोटि का है, इसलिये कृपया कार्य को आगे बढ़ाओ।" (४ अप्रैल, १९४१)। आज तुम हाल्सक्राफ्ट जा रही हो और २५ जुलाई को टोनी भी वहाँ सप्ताहांत बिताने जा रही है। उसका पिछला सुन्दर पत्र तुम्हें भेजने के लिये आज मैं तुम्हें लिख रही हूँ। मैं उसे भी हवाई डाक से पत्र लिख रही हूँ और Inspired Talks (देववाणी) का अमेरिकी पॉकेट संस्करण उसे भेज रही हूँ, क्योंकि मैं चाहती हूँ कि वह इसी संस्करण का प्रत्येक शब्द, चित्र तथा कविताएँ जर्मन भाषा में प्रस्तुत करे। इसमें स्वामीजी के विचारों का सार समन्वित रूप से प्राप्त हो जाता है।" (२१ जुलाई, १९४१)।

जैसा कि स्वाभाविक है, नारियों की – विशेषकर भारतीय नारियों की उन्नति का विषय जोसेफिन को विशेष प्रिय था। उन्होंने लिखा – "देखो, भारत में नारी-शिक्षिकाएँ मिलना बड़ा ही कठिन है... और (भगिनी) क्रिस्टिन जिन बालिकाओं को प्रशिक्षित कर रही हैं, उनके परिपक्व होने में काफी समय लगेगा; यद्यपि उसके द्वारा अपनायी गयी पद्धति ठीक है, तथापि उत्तरदायित्व दिये बिना अनुभव तथा स्वाभिमान नहीं आता। ... अगले बीस वर्षों के भीतर भारत में नारियों के कल्याणार्थ नारियों द्वारा ही परिचालित अनेक केन्द्र विकसित हो जाने चाहिये। हमें उचित महिलाओं के चयन में सहायता करनी होगी, क्योंकि सब कुछ उन्हीं पर निर्भर है।" (२० मार्च, १९१६)। "भगिनी गायत्री योग्य है। ... वह सोलह वर्षों से अमेरिका में है, संस्कृत जानती है, तेरह वर्षों से व्याख्यान दे रही है; और सिनेटर जोन्स की पुत्री भगिनी दया के साथ मिलकर कैलीफोर्निया में तथा यहाँ पर परमानन्द के कार्य को जारी रखना चाहती है। स्वामीजी सर्वदा महिलाओं का मठ स्थापित करना चाहते थे और अब हमारे पास उसे प्रारम्भ करने के लिये योग्य तथा समर्पित महिलाएँ उपलब्ध हैं। मैं इस पर हर्षित हूँ। (१० सितम्बर, १९४०)।

जब कभी रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा के कार्य में विस्तार होता, कोई नई गतिविधि प्रारम्भ की जाती, जोसेफिन के आनन्द की सीमा न रहती। निम्नलिखित उद्धरणों के द्वारा इस भाव-आन्दोलन के साथ उनकी आत्मीयता का भाव अभिव्यक्त हो उठता है – "इन युवा संन्यासियों के जीवन तथा क्रिया-कलापों को थोड़ा-बहुत देखने से ही स्पष्ट हो जाता है कि यह संघ किस दिशा में विकसित होगा। उनकी एक महान् उपलब्धि यह है कि वे अब कृषि के क्षेत्र में कार्य आरम्भ कर रहे हैं। आज ३ से ५ बजे के दौरान सरकारी

विशेषज्ञ आनेवाला है; और बाहर के केन्द्रों की गतिविधि के अंग के रूप में, क्रमशः सभी को खाद्य-उत्पादन की वैज्ञानिक पद्धति में प्रशिक्षित किया जायेगा। यह सब धीमी गति से होनेवाला, परन्तु सच्चा और ठोस कार्य है ! जब तक घरेलू समस्या का समाधान न हो जाय, तब तक किसी बड़ी समस्या पर आक्रमण करने से कोई लाभ नहीं; और ये लोग उसी ज्योति से आलोकित हैं, जिसे लेकर स्वामीजी ने पूरे विश्व में भ्रमण किया।... याद करो, स्वामीजी ने कहा था, 'अल्बर्टा, तुम्हारे जीवन की कोई भी घटना तुम्हारी कल्पना-शक्ति की बराबरी नहीं कर सकती।' '' (२ जून, १९२६)। ''तुम्हें याद होगा, स्वामीजी ने कहा था – बेलूड़ मठ धार्मिक बुनियादों पर खड़ा एक महान् विश्वविद्यालय होगा। और शायद हम दोनों अपने जीवन-काल में ही इस भविष्य-वाणी को सत्य होते देख सकेंगी।'' (२२ फरवरी, १९३९)। ''मैं यहाँ मठ के संचालकों से अनुरोध कर रही हूँ कि वे युवा संन्यासियों को भिक्षाटन पर भेजें, जैसा कि स्वामीजी भिक्षा द्वारा अपनी उदरपूर्ति करते हुए पैदल भ्रमण करते थे और वास्तविक अनुभव के द्वारा शिक्षा ग्रहण करते थे। स्वामीजी कोई बने-बनाये (परिपूर्ण रूप में) आकाश से नहीं टपक पड़े थे; वे क्रमशः विकसित हुए थे ! उनके संन्यासियों को भी ऐसा ही करना होगा, अन्यथा वे बड़े कोमल तथा मेरुदंडहीन हो जायेंगे और उनमें समायोजन की क्षमता भी नहीं होगी।'' (१६ फरवरी, १९२७)। ''मितव्ययिता से मुझे आध्यात्मिक सहायता का आनन्द मिलता है, क्योंकि इससे बचा हुआ धन मेरे प्रियजनों के अध्यात्म-पथ में सहायक होता है और इस प्रकार यह उनके साहस की रक्षा करता है।'' (२३ अक्तूबर, १९३९)। ''नीचे (बेलूड़ मठ के परिसर में) हजारों लोग एकत्र हैं, वे सभी स्वामीजी के जन्मोत्सव के अवसर पर एक महान् जीवन को श्रद्धांजलि अर्पित करने आये हैं। मैं बैठी-बैठी विस्मय-विभोर हो उठती हूँ। आज स्वामीजी के प्रिय व्यंजन पकाने के लिये बोशी सेन आने वाले हैं। मैं चाकलेट-आइसक्रीम मँगा रही हूँ, जिसे ये सभी खायेंगे। यह बचपना जैसा है, पर सम्भवतः इसी के द्वारा उनका जीवन तरुण, ताजा तथा प्राणवन्त बना हुआ है।'' (२५ जनवरी, १९२७)।

इन पत्रों से हमें जोसेफिन के मन की कैसी झलकियाँ प्राप्त होती हैं? जो चीज हमें सर्वाधिक आकृष्ट करती है, वह है उनका उत्साह तथा ग्रहणशीलता। उदाहरणार्थ वे लिखती हैं – ''मैं शायद ही कहीं दुबारा जाती हूँ, 'जीवन सुन्दर है और भविष्य पवित्र', इसलिये मैं सदा नये-नये अनुभवों तथा नये-नये मित्रों की खोज में निकलती हूँ। स्वामीजी प्रतिदिन नवीन तथा तरोताजा दिखते थे, इसीलिये लोग उनकी ओर आकृष्ट होते थे। अतः यदि हम लोग उन्हीं के जैसे प्रतिदिन शिक्षा ग्रहण करें, तो कभी पुराने, सड़े-गले या निष्प्राण नहीं होंगे। जीवन एक आशा है, एक विस्मय है; और ईश्वर भी ऐसे ही हैं, हैं न !'' (७ दिसम्बर, १९३८)। ''मुझे हमेशा ऐसा लगता है जीवन अभी-अभी शुरू हुआ है – किसी पाँच साल के शिशु ने भी मुझसे अधिक इस बात को अनुभव नहीं किया होगा; और जैसा कि पाँच साल की आयु में मैंने डिट्राएट में सपना देखा था कि यदि मैं अपने बगीचे को खोदूँ, तो मुझे उसमें सोना मिलेगा (और मुझे उसमें सोने के कर्णफूल का एक टुकड़ा मिला भी था), अतः अब मैं देख रही हूँ, खोद रही हूँ और सर्वत्र अद्भुत वस्तुएँ पा रही हूँ, विशेषकर अब जबकि शरीर के विषय में मेरी चिन्ता दूर हो चुकी है।... यह बात तो मैं स्पष्ट देखती हूँ कि मुझमें कोई तपस्या का भाव नहीं है, परन्तु मैं सर्वत्र अच्छाई देखकर उसे ग्रहण करती हूँ और बीच-बीच में सर्वश्रेष्ठता से भी साक्षात्कार हो जाता है। जब मैं देखती हूँ कि लोग कितना सहन करके करते हैं, तो मैं विस्मय तथा प्रशंसा के भाव से अभिभूत हो उठती हूँ। व्यक्ति जब लोगों के हृदय तक पहुँच जाता है, उनका विश्वास जीत लेता है, तभी वह सीख पाता है – इसीलिये मैं विश्वास पसन्द करती हूँ – ऐसी मित्रताएँ जो अन्तरंगता में विकसित होती जाती हैं। ... यदि मैं न्यूयार्क गयी, तो अज्ञात की खोज में ही जाऊँगी। उस अज्ञात ईश्वर की खोज में, जो असंख्य रूप तथा आकृतियाँ धारण करके हमें सर्वदा अनुमान – विस्मय में लगाये रखता है।'' (२१ मार्च, १९३९)। ''यह विस्मय ही मुझे जीवित रखता है कि अगले व्यक्ति से मुझे क्या मिलेगा, न कि मैं उसे क्या दूँगी। मैं विविध प्रकार के लोगों को पसन्द करती हूँ – उन्हें स्वीकार करना और वे जैसे हैं वैसे ही उनका उपयोग करना (शोषण नहीं); और इस प्रकार अपने क्षितिज का विस्तार करते जाना। उसकी गहराई में वृद्धि करना तो कठिन है, क्योंकि मैं स्वामीजी के साथ रही हूँ।'' (७ सितम्बर, १९४६)। ''मैं अधिकांशतः दूसरों के जीवन में रहती हूँ। इसके फल-स्वरूप नये-नये विचारों तथा संस्कृति के द्वारा मेरा विस्तार होता रहता है।'' (२७ नवम्बर, १९३८)। ''यदि कभी मेरी समाधि बनी, तो उस पर लिखा होगा – 'तत्परता ही सब कुछ है'। ... संयोगवश मैं एक ऐसे परिवार में प्रविष्ट हुई, जिसने मुझे स्वाधीनता दी ! उसके बाद पैंतीस साल की आयु में स्वामीजी ने आध्यात्मिक स्वाधीनता प्रदान की; इसलिये इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि मैं नयी-नयी चीजें सीखते हुए प्रसन्न हूँ।'' (२८ फरवरी, १९३९)। ''इस पृथ्वी का जीवन एक महान् अवसर है; यह जानकर दिन-रात सीखो और सीखते रहो कि इस पृथ्वी पर सीखा हुआ सब कुछ कहीं और कभी भी उपयोग किया जा सकता है, क्योंकि आत्मा कभी मरती नहीं।'' (२२ दिसम्बर, १९३९)। ''पिछले सोमवार को जब मैंने टाउन हॉल क्लब में प्रवेश लिया, तो उन लोगों द्वारा मेरी आजीविका पूछने पर मैंने लिखा, 'सीखना'।'' (३० अक्तूबर,

१९४०)। "मेरा धर्म है – हर किसी से सीखना, क्योंकि यह जगत् ईश्वर का है और उन्होंने मुझे यहाँ शिक्षा ग्रहण करने और साथ ही उनकी पूजा करने को भेजा है।" (१४ मई, १९४१)।

जोसेफिन ने स्वयं ही घोषित किया – "मुझमें कोई भी त्याग नहीं, पर मेरे पास भारत को देखने और उसकी उन्नति में सहायता करने की स्वाधीनता है। अग्निमंत्र में दीक्षित आदर्शवादियों के इस समूह को जीवन-रूपी जंगल के बीच नये-नये मार्गों का निर्माण करते हुए देखना – यही मेरा कार्य है और इसी से मुझे प्रेम है।" (१२ मार्च, १९२३)।

परन्तु उनका गहन ज्ञान तथा श्रद्धाभाव उनके इस उत्साह तथा उद्यम के मूल में था और साथ ही यह सब अनासक्ति के भाव से ओतप्रोत था। वे लिखती हैं – "अब मुझे दिखने लगा है कि जब वर्तमान को गहराई प्रदान किया जाता है, तो वह अनन्त में परिणत हो जाता है। आइंस्टीन के शब्दों में कहें तो एक तरह का नया आयाम प्रकट हो जाता है।" (४ अक्तूबर, १९२३)। "मेरा इस समय का जीवन मानो एक सुन्दर जुलूस है; और मैं सब कुछ का रसास्वादन करती हूँ – परन्तु अन्तर की गहराई में जानती हूँ कि साम्राज्य चले जाते हैं – केवल ईश्वर ही चिर स्थायी हैं!" (२९ जनवरी, १९२५)। "तुमने पूछा है कि क्या मैं असन्दिग्ध रूप से परम तत्त्व (ब्रह्म) को पकड़ सकी हूँ। – हाँ, पूरी तौर से। यह मेरे जीवन का अभिन्न अंग प्रतीत होता है। वह 'सत्य' ही है, (जिसे मैंने स्वामीजी में देखा और) जिसने मुझे मुक्त कर दिया है। किसी के दोष मुझे अत्यन्त तुच्छ प्रतीत होते हैं। जब व्यक्ति के पास अपने क्रीड़ांगन के रूप में सत्य का समुद्र ही उपलब्ध है, तो फिर वह भला उन दोषों का स्मरण ही क्यों करे?" (१२ मार्च, १९२३)। "परन्तु स्मरण रखना कि यह जीवन जल के समान गतिशील है और निरन्तर तरह-तरह के आकार, रंग तथा स्वाद प्रकट कर रहा है; अत: यदि हम इसके आकार, रंग तथा स्वाद के स्थान पर इसकी गतिशीलता को देख सकें, तो हम इससे पीड़ित होने के स्थान पर केवल द्रष्टा या साक्षी ही होंगे।" (३० दिसम्बर, १९३८)। "हम अपने तथा अपनी जरूरतों के विषय में कितना कम जानते हैं, ऐसा ही है न? हमारे अपने व्यक्तित्व के विषय में केवल एक छोटी-सी खिड़की खुली है और हम लोग इसकी उन गहराइयों, ऊँचाइयों तथा विस्तार को देखकर अवाक् रह जाते हैं, जिनका हमें केवल अनुमान ही था, पर जिनका हमने कभी सर्वेक्षण नहीं किया था। हम अपने विषय में जो जानते हैं, वस्तुत: हम उसकी अपेक्षा काफी अधिक अच्छे तथा उत्कृष्ट हैं; और हम प्राय: ही अपनी स्वयं की क्षमता पर विस्मित रह जाते हैं।" (११ अगस्त, १९२८)।

निम्नलिखित पत्रांश उनके जीवन-दर्शन का सार-संक्षेप प्रकट करते हैं – "जब कोई कहता है कि हमें अपने अहंकार को छोड़ देना चाहिये, तो मैं उससे सहमत नहीं हो पाती, क्योंकि आत्मा या अहं ही प्रत्येक जीवन का आधार है, परन्तु वह ढँका हुआ है। केवल उस आवरण से छुटकारा पा लो, तो फिर अहं अपनी सम्पूर्ण महिमा के साथ आलोकित हो उठेगा।" (२२ दिसम्बर, १९३९)। "मुझे नहीं लगता कि मुझसे जगत् की समस्याओं के समाधान की अपेक्षा है, बल्कि मुझे अपनी ही एक छोटी-सी अन्तरंग समस्या से निपटना है – प्रथमत: तो मेरी अपनी शारीरिक क्षमता की सीमाबद्धता है और तदुपरान्त उन नैतिक तथा आध्यात्मिक आदर्शों को लेकर है, जैसा कि मैंने उन्हें समझा है। यही कारण है कि मैंने स्वामीजी से कहा था, 'मैंने अपने जीवन में कभी कोई नि:स्वार्थ कार्य नहीं किया।' इस पर वे बोले, 'सत्य है, परन्तु 'मैं' का भी तो एक विराट् रूप है और एक संकीर्ण रूप।' इससे मैं सहमत हुई। उदाहरणार्थ यदि मैं दूसरों से प्रेम करूँ, तो इससे 'मैं' का विस्तार होता है, ऐसा ही है न? और मैं जितनी अधिक विस्तृत होकर दूसरों से प्रेम करती हूँ, एकमेवाद्वितीय ईश्वर भी उतना ही अधिक मुझमें प्रकट होता है।" (२२ मार्च, १९४०)।

उनके मन में क्या कभी दुर्बलता भी आयी थी? – "मृत्यु को एक उपलब्धि या आनन्द का अवसर मानने की जगह उसके भय से संकुचित हो जाना – यह क्या है? वास्तविकता छिपी हुई है और यह एक वरदान तथा आत्मा की शरीर पर विषय के सुअवसर के स्थान पर यह एक अभिशाप प्रतीत होता है।" (३ सितम्बर, १९२३)। "मैं तुम सभी को आशीर्वाद देती हूँ। जब तक मैं शरीर के बाहर न चली जाऊँ, तब तक जीवित रहने का प्रयास करो; परन्तु आत्मा तो चिरजीवी है, इसलिये शरीर को लेकर इतनी माथापच्ची क्यों?" (२९ अगस्त, १९४३)।

उनकी स्वाभाविक दृढ़ता के बावजूद बीच-बीच में उनकी भक्ति-प्रवणता भी व्यक्त हो उठती है – "क... के मन में ख... के प्रति इतनी सद्भावना देखकर मुझे बड़ा आनन्द होता है। सर्वत्र इतना क्रोध तथा निन्दा का भाव दिखाई पड़ता है! इससे संसार में कोई परिवर्तन नहीं आता, परन्तु ईश्वर दूर चले जाते हैं। ये दोनों एक साथ ही हृदय में भला कैसे निवास कर सकते हैं!" (७ दिसम्बर, १९३९)। "मैं चाहूँगी कि प्रत्येक पीढ़ी में अवतार का आगमन हो और वे आकर मानवता को बारम्बार उसकी दिव्य विरासत तथा दृष्टिकोण को पुन: जगा सकें; तुम भी ऐसी ही चाहोगी न? सम्भवत: वे आते भी हैं। एक को तो मैंने निश्चित रूप से जान लिया है और जैसा कि स्वामीजी कहते थे, ये लोग ही हमें 'जगदम्बा के स्नेहपूर्ण हृदय से जोड़े रहते हैं'। जोरों से जकड़ने की जगह यदि हम केवल बहते रहें, तो देखने तथा सीखने के लिये हमारे पास यथेष्ट समय तथा शक्ति बच रहेगी। इस जगत् को चलाने का काम मेरा नहीं है।" (२१ सितम्बर, १९२२)।

❖ **(समाप्त)** ❖

(प्रबुद्ध भारत, जुलाई १९७९ से अनुवादित)

स्वामी विरजानन्द (२)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। बँगला भाषा से इसका हिन्दी अनुवाद किया है स्वामी विदेहात्मानन्द ने। अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

❖ (पिछले अंक से आगे) ❖

कालीकृष्ण के लिये अब पढ़ाई-लिखाई में मन लगाना कठिन हो गया – संसार का कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। उनके हृदय में निरन्तर बेचैनी का बोध होने लगा। घर के पास ही सिखों का एक निर्जन उद्यान था, जिसमें एक तालाब भी बना हुआ था। वे तालाब के पक्के घाट पर एकान्त में बैठे हुए ध्यान-चिन्तन में समय बिताने लगे। गहरी रात तक जागकर पढ़ाई-लिखाई के स्थान पर ध्यान-भजन करते रहते। कालीकृष्ण के जीवन में सहसा आये इस परिवर्तन को देखकर उनके माता-पिता बड़े चिन्तित हो उठे।

पिता त्रैलोक्यनाथ अपना धैर्य खो बैठे और एक दिन उन्होंने कालीकृष्ण को बुलाकर पूछा, "मुझे बता कि तू चाहता क्या है?" कालीकृष्ण बड़े संकोची स्वभाव के थे, तथापि इस बार वे जरा भी नहीं हिचकिचाये। उन्होंने मृदु परन्तु दृढ़ स्वर में उत्तर दिया, "पढ़ाई-लिखाई में मेरी अब जरा भी रुचि नहीं रह गयी है। अब मैं अपना अधिकांश समय ईश्वर की प्राप्ति के लिये साधना में बिताता हूँ।" पिता इस पर जरा भी विचलित नहीं हुए, परन्तु बोले, "सांसारिक जीवन तथा ईश्वरप्राप्ति – दोनों एक साथ नहीं हो सकते। यदि तुम संसार में उन्नति करना चाहते हो, तो तुम्हें अपनी पढ़ाई-लिखाई में मन लगाना होगा; और यदि तुम ईश्वर को प्राप्त करना चाहते हो, तो तुम्हें जी-जान लगाकर साधना करनी होगी। तुम्हें किस मार्ग पर चलना है, यह निश्चित कर लो। अच्छी तरह सोच-समझकर निर्णय लेने के लिये तुम्हें तीन दिनों का समय देता हूँ।" तीन दिनों बाद कालीकृष्ण ने पिता को सूचित किया, "मैंने निश्चय किया है कि मैं भगवत्प्राप्ति के लिये ही प्रयास करूँगा। मुझे लगता है कि वराहनगर मठ में जाकर परमहंस देव के संन्यासी-शिष्यों के साथ रहने से इस मार्ग में मुझे बड़ी सहायता मिलेगी।" पुत्र के इस अद्‌भुत संकल्प की बात सुनकर पिता ने भी कहा, "बड़ी अच्छी बात है। परन्तु धर्मजीवन बिताने के लिये अपनी माता की अनुमति लेना आवश्यक है। मुझे तो इस विषय में जरा भी आपत्ति नहीं है। मेरे चार पुत्रों में से एक यदि धर्मजीवन बिताये, तो यह मेरे लिये बड़े ही आनन्द की बात है।"

पहले ही बताया जा चुका है कि पुत्र के इस संकल्प को माँ ने निर्भयतापूर्वक सहमति दे दी थी। तथापि उन्होंने कहा था, "तीन दिन और ठहर जाओ, उसके बाद जाना।" माँ की इच्छा पूरी करने के बाद और माता-पिता का आशीर्वाद शिरोधार्य करके कालीकृष्ण वराहनगर मठ की ओर चल पड़े। माँ ने स्वयं ही अपने ब्रह्मचारी पुत्र के लिये वस्त्र को गेरुए मिट्टी से रंग दिया था और मठ में ठाकुरजी को भोग देने के लिये कई तरह के मिष्ठान्न आदि बनाकर पुत्र के साथ भेज दिया था। कालीकृष्ण की आयु तब सत्रह वर्ष की थी, पर देखने में वे और भी छोटे लगते थे।

१८९१ ई. का वर्ष था। श्रीरामकृष्ण के तिरोभाव के बाद उनके अपने शिष्यों के अतिरिक्त कालीकृष्ण ऐसे पहले युवक थे, जिन्होंने अपना सर्वस्व त्यागकर वराहनगर मठ में प्रवेश लिया था। इस प्रसंग में स्वामी प्रेमानन्द द्वारा २३ जून १९१४ को लिखित एक पत्र की कुछ पंक्तियाँ विशेष रूप से स्मरणीय हैं। उन्होंने बड़े मधुर आवेगपूर्ण भाषा में कालीकृष्ण को लिखा था, "कालीकृष्ण, चलो आगे बढ़ो, आगे बढ़ो। हमें प्रभु के पास पहुँचना होगा। ठाकुर के तिरोभाव के बाद वराहनगर मठ में आनेवाले तुम्हीं तो पहले त्यागी भक्त हो। देखते-ही-देखते कितने दिन बीत गये!"

वराहनगर मठ में त्याग व अनासक्ति की साक्षात् प्रतिमूर्ति श्रीरामकृष्ण-शिष्यों के सान्निध्य में कालीकृष्ण का नव त्यागमय जीवन प्रस्फुटित होने लगा। धीरे-धीरे मठ के साधारण कार्यों से लेकर ठाकुर-सेवा तक के सभी कार्यों में कालीकृष्ण स्वामी रामकृष्णानन्द के दाहिने हाथ बन गये। वे पूरे मन-प्राण के साथ साधन-भजन में भी डूबे रहने लगे। कभी स्वामी निरंजनानन्द के साथ, तो कभी अकेले ही वे दक्षिणेश्वर चले जाते और पंचवटी के नीचे या श्रीरामकृष्ण के कमरे में बैठकर ध्यान आदि में समय बिताते। जिस भाव के साथ वे संन्यासियों की सेवा करते, वह सदा के लिये रामकृष्ण संघ के सदस्यों के लिये एक उदाहरण बना रहेगा। उनकी सेवा-निष्ठा पर अत्यन्त मुग्ध होकर एक दिन स्वामी सारदानन्द ने कहा था, "यह बालक कौन है, जो माँ के समान सेवा करता है?" परवर्ती काल में वराहनगर मठ की स्मृतियों के विषय में बोलते समय वे अत्यन्त भावुक हो जाया करते थे।

उनकी स्वयं की उक्तियों से ज्ञात होता है कि वराहनगर मठ में आने के थोड़े ही दिनों बाद वे स्वामी निरंजनानन्द तथा

श्रीरामकृष्ण के भतीजे रामलाल दादा के साथ एक बार गया, बोधगया आदि तीर्थों का दर्शन करने गये थे।

१८९१ ई. के अक्तूबर में श्रीमाँ सारदा देवी ने जयरामवाटी में जगद्धात्री पूजा करने का संकल्प किया। स्वामी सारदानन्द इस अवसर पर पूजा का सामान लेकर कुछ भक्तों के साथ वहाँ जानेवाले थे। उन्होंने कालीकृष्ण से पूछा, "क्यों रे, चाहे तो तू भी हम लोगों के साथ चल।" अपना अपेक्षित अवसर पाकर कालीकृष्ण का हृदय एक अज्ञात आनन्द से उत्फुल्ल हो उठा। इस टोली में वैकुण्ठनाथ सान्याल, हर-मोहन मित्र, योगीन-माँ तथा गोलाप-माँ भी थीं। वे लोग बर्धमान के मार्ग से श्रीरामकृष्ण की पुनीत जन्मभूमि कामारपुकुर पहुँचे और वहाँ से खेतों के बीच से चलते हुए माँ के पास जयरामबाटी जा पहुँचे।

माँ ने स्नेहपूर्वक हाथ बढ़ा कर बालक कालीकृष्ण की ठोढ़ी का स्पर्श किया। करुणामयी माँ का प्रत्यक्ष स्पर्श पाकर तरुण तपस्वी का हृदय-मन भावविभोर हो उठा। माँ की इच्छानुसार दुर्गापूजा के समान ही तीन दिनों तक बड़े समारोह के साथ जगद्धात्री देवी की पूजा सम्पन्न हुई। आयु में बालक होने के कारण कालीकृष्ण बड़े स्वाभाविक रूप से माँ के अति निकट जा सके थे और माँ के बहुत-से छोटे-मोटे कार्य पूरा कर डालते। इसी दौरान वे कई बार कामारपुकुर का दर्शन भी कर आये थे। उस समय की कामारपुकुर की स्मृतियों के विषय में उन्होंने स्वयं ही कहा था, "कामारपुकुर में रहते समय एक अपूर्व पवित्रता, शान्ति तथा आनन्द के भाव से परिपूर्ण रहा करता था; और ठीक-ठीक बोध करता कि हम एक पवित्र भूमि पर विचरण कर रहे हैं। उस पर्णकुटीर में क्या ही मोहिनी शक्ति है! मानो साक्षात् आध्यात्मिकता से स्पन्दित हो रहा था। लगता मानो वह पृथ्वी के परे है।"

जयरामवाटी में श्रीमाँ की अलौकिक स्नेहछाया में कुछ दिन आनन्दपूर्वक बिताने के बाद वे लोग वराहनगर मठ लौट आये। परवर्ती काल में विरजानन्दजी ने इस पुण्य-स्मृति के प्रसंग में अपनी मर्मस्पर्शी भाषा में लिखा था –

"शून्य हृदय के साथ मैं वराहनगर मठ लौट आया। शून्य हृदय भी भला कैसे कहूँ? माँ के अलौकिक स्नेह से परिपूर्ण हृदय के साथ लौट आया। माँ के बारे में जो थोड़ी-बहुत बातें सुन रखी थीं, उससे भला कौन समझ पाता कि माँ ऐसी माँ हैं, जो इस प्रकार पूरे मन-प्राण को छीनकर अपने से भी अधिक अपना बना लेंगी! घर में माँ से बड़ा प्रेम करता था और वे भी कितना प्रेम करती थीं, परन्तु ये तो जन्म-जन्मान्तर की, चिरकाल की अपनी माँ थीं।"

जयरामवाटी से लौटने के बाद से स्वामी सारदानन्द तथा कालीकृष्ण क्रमशः मलेरिया का प्रकोप झेल रहे थे। उन्हीं दिनों कालीकृष्ण ने चिकित्सा हेतु कुछ समय स्वामी निरंजनानन्द के संरक्षण में बलराम-मन्दिर में बिताया था। तब वे प्रायः ही निरंजनानन्दजी के साथ गिरीश बाबू के घर जाकर श्रीरामकृष्ण की बातें सुना करते थे। अस्तु, निरंजन महाराज के स्नेह-यत्न तथा श्रीरामकृष्ण के भक्त सुप्रसिद्ध चिकित्सक विपिन बाबू की दवा से कालीकृष्ण का शरीर क्रमशः स्वस्थ हो उठा। १८९२ ई. का अन्तिम काल। मठ तब तक आलम-बाजार में स्थानान्तरित हो चुका था। कालीकृष्ण आलमबाजार मठ में आकर पुनः ठाकुर तथा मठ के साधुओं की सेवा में लग गये। वराहनगर के समान ही आलमबाजार में भी कालीकृष्ण के दिन साधन-भजन तथा सेवा में खूब आनन्दपूर्वक बीतने लगे।

इन्हीं दिनों उन्हें बीच-बीच में गोपाल की माँ की सेवा करने का भी सुयोग मिलता था। तब गोपाल की माँ कभी-कभी मठ में आकर दो-चार दिन निवास भी करती थीं। घर छोड़ने के पूर्व ही उन्होंने पहली बार गोपाल की माँ का दर्शन

पुरखों की थाती

पुष्पेषु तेषु नष्टेषु यद्वत् सूत्रं न नश्यति।
तथा देहेषु नष्टेषु नैव नश्यामि सर्वगः।।

– जैसे फूलों के नष्ट हो जाने पर भी माला में अदृश्य रूप से स्थित धागा नष्ट नहीं होता, वैसे ही देह के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा-रूपी 'मैं' नष्ट नहीं होता।

पुत्र-दार-कुटुम्बेषु प्रसक्ताः सर्व-मानवाः।
शोक-पंकार्णवे मग्ना जीर्णा वनगजा इव।।

– पुत्र, पत्नी तथा परिवार में आसक्त रहनेवाले सभी मनुष्य वन के वृद्ध हाथियों के समान सदैव शोक के दलदल में डूबते रहते हैं। (महाभारत)

पुत्र-मित्र-कलत्रादि तृष्णया नित्य-कृष्टया।
खगेष्विव किरात्येदं जालं लोकेषु रच्यते।।

– तृष्णा अर्थात् कामना-वासना-रूपी किरातिनी द्वारा मनुष्य-रूपी पक्षियों को पकड़ने के लिये यह पुत्र-मित्र-पत्नी रूपी जाल फैलाया जाता है।

पापं तिष्ठति तिष्ठन्तं धावन्तम्-अनुधावति।
करोति कुर्वतः कर्म-च्छायेवानुविधीयते।।

– मनुष्य के पाप (तथा पुण्य) उसकी छाया के समान – बैठने पर बैठ जाते हैं, दौड़ने पर पीछे-पीछे दौड़ते हैं और कर्म करने पर कर्म में लग जाते हैं।

पित्रोः नित्यं प्रियं कुर्याद्-आचार्यस्य च सर्वदा।
तेषु हि त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते।।

– व्यक्ति को सर्वदा अपने माता-पिता तथा आचार्य को प्रसन्न रखना चाहिये, क्योंकि इन तीनों के सन्तुष्ट होने पर सारी तपस्या पूर्ण हो जाती है।

किया था। कामारहाटी में गोपाल की माँ के घर की स्मृति तथा उनकी गोपाल-गत-प्राणता, मानो कालीकृष्ण के जीवन में गुँथी हुई थी। इस अनुभव की याद करते हुए परवर्ती काल में वे कहा करते, "वह पुराना खण्डहरनुमा मकान मानो भगवद्भाव के स्पन्दन से परिपूर्ण एक मन्दिर जैसा प्रतीत होने लगा। ऐसा लगता कि ठाकुर वहाँ जीवन्त रूप से विराजित हैं। उनकी गोपाल-गत-प्राणता, कठोरता, वैराग्य, सरलता, सबको गोपाल कहकर सम्बोधित करना – मानो वे साक्षात् यशोदा मैया थीं!"

१८९३ ई. के मध्य का काल था। यद्यपि आलमबाजार मठ के जीवन ने कालीकृष्ण के मन-प्राण को उत्साह तथा उद्दीपना से परिपूर्ण कर दिया था, तथापि उनका शरीर तब भी पूरी तौर से स्वस्थ नहीं हो पा रहा था। उन्हें बीच-बीच में बुखार चढ़ जाता, परन्तु वे किसी को भी यह बात बताते नहीं थे। श्रीमाँ उन दिनों बेलूड़ के नीलाम्बर मुखोपाध्याय के उद्यान-भवन में निवास कर रही थीं। कालीकृष्ण एक दिन वहाँ माँ को प्रणाम करने गये और उनके आदेश पर रात को उस उद्यान-भवन में ही ठहर गये। स्वामी योगानन्द उन दिनों माँ के प्रमुख सेवक थे। स्वामी त्रिगुणातीतानन्द भी माँ की सेवा करते थे। गोलाप-माँ तथा योगेन-माँ भी माँ के साथ ही रहती थीं। सुबह माँ के चरणों में प्रणाम करने के बाद कालीकृष्ण मठ में लौट आनेवाले थे। माँ को प्रणाम करते ही, माँ ने उनकी ओर अत्यन्त करुणापूर्ण नेत्रों से देखते हुए कहा, "बेटा, तुम्हें देखकर मेरे प्राणों में बड़ा ही कष्ट हुआ। पहले तुम्हारा कैसा गोल-मटोल शरीर था, परन्तु बारम्बार मलेरिया का कष्ट झेलते हुए तुम्हारा शरीर बिगड़ गया है। ये लोग साधु-फकीर हैं, तुम्हें भला खिलायेंगे भी क्या! तुम कुछ दिन घर जाकर रहो; वहाँ चिकित्सा तथा पौष्टिक भोजन आदि करके शरीर को ठीक कर लो।" माँ के मुख से ऐसा आदेश सुनकर कालीकृष्ण के सिर पर मानो आकाश टूट पड़ा। वे मौन रह गये। माँ फिर बोलीं, "ऐसा ही करो बेटा! इसी से मंगल होगा।"

कालीकृष्ण का हृदय पीड़ा से कराह उठा और दोनों नेत्रों से अश्रु प्रवाहित होने लगे। वे शीघ्रतापूर्वक कमरे से बाहर चले गये और उद्यान के एक निर्जन कोने में बैठकर रोने लगे। इधर अन्तर्यामिनी माँ भी कालीकृष्ण के हृदय की वेदना का अनुभव कर रही थीं, तथापि उन्होंने अपना आदेश वापस नहीं लिया। वे गोलाप-माँ से बोलीं, "अहा, कालीकृष्ण का शरीर देखकर मैं सिहर उठी थी। ... इसीलिये घर जाकर अच्छी तरह खाने-पीने को कहा। इससे उसके मन को कष्ट हुआ है, यह सोचकर मेरी आँखों में भी पानी आ रहा है।"

इधर विधाता ने अप्रत्याशित रूप से कालीकृष्ण के वेदना-आहत हृदय में शान्ति लाने का उपाय भी कर दिया। योगानन्दजी ने उन्हें खूब आश्वासन देते हुए अगले दिन सुबह फिर माँ के पास भेजा और उनसे मंत्रदीक्षा के लिये प्रार्थना करने की बात भी सिखा दी। माँ ने प्रसन्न होकर बालक कालीकृष्ण की मनोकामना पूर्ण किया। माँ ने उन्हें इष्ट-मंत्र प्रदान किया और साधन-प्रणाली का उपदेश दिया। श्रीमाँ के वराभय हाथों के स्पर्श से उनके चित्त में बल आया और उन्होंने संकल्प किया कि वे घर जाकर माँ के निर्देशानुसार जप-ध्यान तथा पूजा-पाठ में ही समय बितायेंगे।

वर्षा के दिन थे। संध्या के समय कालीकृष्ण ने माँ के चरणों में प्रणाम किया और आलमबाजार मठ की ओर चल पड़े। मठ होते हुए वे घर लौट जायेंगे। वर्षा का मौसम था। गंगा में बाढ़ का पानी भरा हुआ था और चारों तरफ कुहरा छाया हुआ था। आकाश बादलों से आच्छन्न था, टप-टप कर वर्षा हो रही थी। कालीकृष्ण नौका पर सवार हुए। माँ नीलाम्बर बाबू के उद्यान-भवन की छत पर खड़ी-खड़ी अपलक नेत्रों से अपनी सन्तान को जाते देख रही थीं। वे स्वयं वर्षा में भीगती हुईं शायद गिन रही थीं कि पुत्र के शरीर पर वर्षा की कितनी बूँदें पड़ीं। यह दृश्य कालीकृष्ण के मानस-पटल पर एक अमिट स्मृति होकर रह गया था।

कालीकृष्ण अपने नारिकेलडाँगा में स्थित घर लौट आये। यह उनके जीवन-नाट्य के एक विशेष अंक का अगला दृश्य था। घर के सेवा-यत्न तथा भोजन के फलस्वरूप वे क्रमशः स्वस्थ तथा सबल होने लगे। वे गहरी रात तक पूजा, जप-ध्यान तथा स्वाध्याय में डूबे रहते। जप की संख्या बढ़ते-बढ़ते प्रतिदिन एक लाख आठ हजार तक पहुँच गयी। जप-ध्यान के बाद वे अपने मन के विभिन्न भावों को गीत के रूप में लिपिबद्ध कर लेते। इसी प्रकार कई सौ गीतों की रचना हो गयी थी। घर में वे किसी के साथ भी मेलजोल नहीं करते – अधिकांश समय कमरे के द्वार में कुण्डी लगाये रखते। केवल खगेन, हरिपद, सुधीर, सुशील आदि धर्म-बन्धुओं के आने पर उन लोगों के साथ ईश्वरीय बातों तथा मठ के विषय में चर्चा करते। मित्रगण भी कालीकृष्ण को पाकर बड़े आनन्दित थे – वे लोग प्रतिदिन शाम को आकर एकत्र होते। परन्तु क्रमशः मित्रों के साथ मिलने-जुलने का समय भी नियंत्रित करके आधा घण्टा हो गया। क्योंकि इससे भी उन्हें अपनी साधना में विघ्न का बोध होने लगा था, विशेषकर जप की निर्दिष्ट संख्या पूरी करने में उन्हें असुविधा का बोध होने लगा था।

कभी-कभी आलमबाजार के साधु लोग – विशेषकर सारदानन्दजी उनका हालचाल देखने आते। बाबूराम महाराज, खोका महाराज, निरंजन महाराज तथा सारदा महाराज भी कई बार कालीकृष्ण के घर पधारे थे। ❖ (क्रमशः) ❖
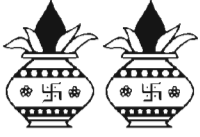
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर में 'विवेकानन्द जयन्ती – २०१०' के उपलक्ष्य में छात्र-छात्राओं के व्यक्तित्व-विकास और चरित्र-निर्माण हेतु जनवरी माह के पूर्वार्ध में विभिन्न प्रकार की प्रतियोगिताओं का आयोजन आश्रम के सत्संग भवन में प्रतिदिन सायं ६ बजे से किया गया। प्रस्तुत है उसी का विशद विवरण –

भारत को स्वामी विवेकानन्द की देन

१ जनवरी, शुक्रवार को 'अन्तर्महाविद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता' थी। प्रथम पुरस्कार विजेता दिशा कॉलेज के श्री उत्कर्ष चतुर्वेदी ने 'भारत को स्वामीजी की देन' के विषय में कहा –

वसुधैव कुटुम्बकम् – का बोध करा कर,
जन-जन को आपने अपनाया।
उतिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरन्निबोधत् –
का सन्देश हमें बतलाया ।।

''वेदान्त धर्म के ज्ञाता स्वामी विवेकानन्द ने भारत को क्या प्रदान किया? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि स्वामीजी ने तो अपना सारा जीवन हमारे लिये समर्पित कर दिया, परन्तु प्रश्न तो यह होना चाहिये कि क्या हमने स्वामीजी से कुछ ग्रहण किया? इसका उत्तर यह है कि स्वामीजी से हमने नैतिक मूल्य ग्रहण किए, स्वामीजी से हमें विश्वबन्धुत्व का सन्देश प्राप्त हुआ, स्वामीजी ने हमे स्वयं पर गर्व करना सिखाया, स्वामीजी ने भारतभूमि की महानता प्रदर्शित की, साथ ही हमें एक नई सोच दी, एक नई दिशा प्रदान की।

''आज हमारा हिन्दू धर्म 'चार वेद' रूपी आधारों पर टिका है। इसी संज्ञा की मैं स्वामीजी द्वारा विश्वधर्म-सम्मेलन, शिकागो में दिये गये वक्तव्यों से तुलना करूँगा। उन्होंने अपने वक्तव्य के पहले दिन 'मेरे अमेरिकावासी बहनो तथा भाइयो' अपने इन शब्दों से हमें विश्व-बन्धुत्व का सन्देश प्रदान किया। हमें ज्ञात हुआ कि यह विश्व एक परिवार है और हम सभी परस्पर भाई तथा बन्धु हैं। द्वितीय दिवस स्वामीजी ने 'कूप-मण्डूक' अर्थात् कुएँ के मेढक का उदाहरण दिया और हमें बता दिया कि हमें अपने धर्म पर गर्व करना चाहिये, अहंकार नहीं। हमें अन्य धर्मों का भी सम्मान करना चाहिये। तृतीय दिवस उन्होंने हमें बताया कि ईश्वर बाह्य आडम्बर से नहीं, अपितु दीन-हीन-असहाय की सच्ची सेवा से प्रसन्न होते हैं। उन्होंने हमें नारायण-रूपी नर की सेवा का पाठ सिखलाया। चतुर्थ दिवस हम भारतीयों के लिए महत्त्वपूर्ण रहा, क्योंकि उस दिन उन्होंने भारत को उस सागर की संज्ञा दी, जिसमें विभिन्न नदियों के जल का संगम होता रहता है। इस वक्तव्य से उन्होंने हमें आपस में मिल-जुलकर रहने की सीख दी और 'अनेकता में एकता' के भाव का स्मरण कराया।

''इसके अतिरिक्त भारतवर्ष को स्वामीजी की सबसे बड़ी देन है – यहाँ के हतोत्साहित युवाओं में नया उत्साह प्रवाहित करना। उन्होंने हमें – 'उतिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत' – का सन्देश दिया, जिसका अर्थ है – 'उठो, जागो और अपने लक्ष्य की प्राप्ति तक रुको मत।' इन शब्दों ने इस सोए भारत में एक नई जान फूंक दी।

''स्वामीजी ने इस राष्ट्र के दीन-हीन, असहाय, अशिक्षितों एवं अज्ञानियों की सेवा हेतु 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना की। आपने कहा था कि 'लोगों की उपेक्षा' करना सबसे पड़ा राष्ट्रीय पाप है और राष्ट्र के पतन का कारण भी। अत: राष्ट्र की उन्नति हेतु हमें इस क्षेत्र में भी कार्य करने की जरूरत है। पर आज यदि वास्तविकता के धरातल पर रहकर बात करें, तो ज्ञात होता है कि विश्व को वसुधैव कुटुम्बकम् का सन्देश देनेवाले स्वामीजी के देश में आज भाई से भाई लड़ रहा है। आज हमारा गर्व अहंकार में बदल चुका है। आज हम धर्म, जाति, रंग, रूप, सम्प्रदाय, भाषा, बोली के नाम पर आपस में लड़ रहे हैं।

''इसका समाधान हम युवाओं के हाथों में हैं। क्योंकि स्वामीजी के शब्दों में 'युवाओं में वह क्षमता है, जो असम्भव-से-असम्भव कार्य को भी सम्भव बना देती है।' स्वामीजी ने कहा था – 'हे तरुणो! मैं तुम्हारे लिए एक वसीयत छोड़ जाता हूँ और वह है – इस देश के दीन-हीन, असहाय तथा अज्ञानियों के प्रति हार्दिक सहानुभूति और अपने राष्ट्र के प्रति कार्य करने की प्राण-पण से चेष्टा।'

अपने युवा साथियों से स्वामीजी के मार्ग पर चलने के आह्वान के साथ इन पंक्तियों को कहकर अपनी वाणी को विराम दूँगा –

उठो देश के युवा तरुणों, देश को फिर से सजाओ रे।
भारत माँ तुम्हें फिर से पुकारे, जगत्गुरु कहलाओ रे ।।

द्वितीय पुरस्कार विजेता जी.ई.सी. इंजीनियरिंग कॉलेज के श्री अनिकेत झा ने भारत के विकास में स्वामीजी के महान् योगदानों का उल्लेख किया। उसी कॉलेज की कुमारी मीनल बंछोर ने कहा, ''यदि भारत को समझना है तो विवेकानन्द जी का अध्ययन करें। स्वामीजी ने विशेषकर युवा वर्ग को ऐसे कई सिद्धान्त दिए हैं, जिन्हें जीवन में उतारकर युवा वर्ग अपना और देश का विकास कर सकता है।'' डिग्री गर्ल्स कालेज की श्रद्धा दूबे ने कहा, ''स्वामी विवेकानन्द ने अपने गुरु के नाम पर रामकृष्ण मिशन आश्रम की स्थापना की। उनके आश्रमों की शृंखला पूरे देश में फैली हुई है। हमें भी अपने गुरु का सम्मान करना चाहिये और उनकी दी हुई शिक्षा को अपने जीवन में उतारना चाहिये। इसी से हम अपना और अपने भारत देश का विकास कर सकते हैं।''

इस सत्र की अध्यक्षता रविशंकर विश्वविद्यालय की इतिहास अध्ययनशाला के पूर्व-अध्यक्ष प्रोफेसर एम.ए. खान ने की।

मैंने इतिहास से क्या सीखा

२ जनवरी, शनिवार को 'अन्तर्महाविद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता' का आयोजन हुआ। विषय था – मैंने इतिहास से क्या सीखा है? प्रथम पुरस्कार विजेता श्री पार्थ झा ने विषय का प्रतिपादन करते हुये कहा कि इतिहास हमें वर्तमान एवं भविष्य में जीने की कला सिखाता है। इतिहास की कमियों को जानकर हम सुधरते हैं और इतिहास के गौरव को जानकर हम अपना विकास करते हैं। इतिहास में कभी नक्सलवाद, आतंकवाद, भ्रष्टाचार नहीं हुआ। हमारे इतिहास के आदर्श हैं – प्रेम, शान्ति तथा गुरु-शिष्य की परम्परा –

जिसे अपनाकर हम अपने जीवन को सुखी बना सकते हैं ।'' द्वितीय पुरस्कार विजेता श्री उत्कर्ष चतुर्वेदी का विषय था – **ग्रामीण भारत में स्वास्थ्य सेवा** । उन्होंने कहा, ''आज भी ग्रामीण अस्पतालों में शहरी अस्पतालों जैसी चिकित्सा-व्यवस्था नहीं है । न तो वहाँ अच्छे डॉक्टर मिलते हैं, न ही अच्छी दवायें । अत: ग्रामीण क्षेत्रों में भी शहरी अस्पतालों जैसे सम्पन्न व्यवस्थित अस्पताल होने चाहिये । हमें प्रत्येक व्यक्ति को समान समुचित अधिकार और विकास की सुविधा देना है ।'' टिकेश जैन ने **चरित्र-निर्माण** विषय पर प्रकाश डालते हुए कहा, ''हम कलेक्टर, डॉक्टर, इंजिनियर तो बनते हैं, पर चरित्रवान नहीं बनते । हमें चरित्रवान व्यक्तियों की जरूरत है । स्वामी रामतीर्थजी कहते थे कि जीवन की शुरुआत डॉग (Dog) से न कर गॉड (God) से करें । सत्य, संयम, दया आदि के द्वारा चरित्र का निर्माण होता है । इसे हम अपने जीवन में जोड़ें । हमें स्वामी विवेकानन्द जी के बताये गये मार्ग पर चलना होगा, इसी से हमारे चरित्र का निर्माण होगा ।'' मीनल बंछोर का विषय था, **मेरी कल्पना का रायपुर** । उन्होंने कहा, ''राष्ट्र में और राज्य में रायपुर का विशेष स्थान है । हमें अपनी महिमा, यहाँ के गौरव और संस्कृति को याद करना चाहिये तथा उनसे प्रेरणा लेना चाहिये । रायपुर सुरक्षित, सुव्यवस्थित और शिक्षा, स्वास्थ्य और विकास के साधनों से सम्पन्न हो । यातायात की अच्छी सुविधा हो और नगर को धूल से मुक्त करने के लिये पेड़-पौधे लगाकर इसे हरा-भरा करें ।''

इस सत्र की अध्यक्षता करते हुये श्री आर.जे. भावे ने कहा – ''तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता में स्वाभाविक गुणों की मौलिक परीक्षा होती है । लगातार अध्ययन करनेवाले प्रतियोगियों को कोई कठिनाई नहीं होती है । प्रतियोगिता के विषय प्रेरक और रुचिवाले हैं । सामान्यतया व्यक्तित्व-विकास हेतु अच्छे विषयों का ही चयन किया जाता है । इस आयोजन हेतु मैं इसके आयोजकों, निर्णायकों तथा प्रतिभागियों को धन्यवाद देता हूँ ।''

मूल्य-आधारित शिक्षा से ही भारत-कल्याण

३ जनवरी, रविवार को 'अन्तर्महाविद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता' का आयोजन था । विषय था – **इस सदन की राय में मूल्य-आधारित शिक्षा से ही भारत का कल्याण सम्भव है ।** प्रथम पुरस्कार विजेता श्री अनिकेत झा ने पक्ष में विचार व्यक्त करते हुये कहा – ''अनैतिकता और भ्रष्टाचार के कारण ही हम अभी तक विकसित राष्ट्र नहीं हो पा रहे हैं । अत: हमें नैतिकता की जरूरत है ।''

द्वितीय पुरस्कार विजेता हिदायतुल्ला विश्वविद्यालय के श्री संघर्ष पाण्डेय ने भी पक्ष में कहा – ''मूल्य-आधारित शिक्षा का अर्थ है, मूल्यों पर आधारित शिक्षा । मूल्यों से हमारा तात्पर्य है नैतिक, आध्यात्मिक तथा सामाजिक मूल्य । नैतिक मूल्य हमें सदाचार का पाठ पढ़ाते हैं, दूसरों की सहायता करना सिखाते हैं । आध्यात्मिक मूल्य हमें सही राह पर चलना सिखाते हैं, सत्य का ज्ञान कराते हैं तथा सामाजिक मूल्य हमें व्यवहार-कुशलता की शिक्षा देते हैं ।

''ये मूल्य हमारे चरित्र का निर्माण करते हैं – स्वामी विवेकानन्द ने भी मूल्यों के सन्दर्भ हमें कहा है – हमें ऐसी शिक्षा चाहिये, जो हमें मनुष्य बना सके, हमारे चरित्र का निर्माण कर सके और हमें कर्मशील बना सके । हमारे पूर्व-राष्ट्रपति माननीय ए.पी.जे. अब्दुल कलाम ने कहा है – For the society to prospes there are two important needs. They are – prosperity through wealth -generation and cherishing the value system of the people. The combination of the two will make the nation truely strong and prosperous. इस तरह उन्होंने हमें देश को समृद्ध और शक्तिशाली बनाने में, मूल्यों के महत्व को बतलाया है ।

''दूसरी ओर स्वामीजी ने कहा है, 'शिक्षा केवल पुस्तकों का पठन-पाठन नहीं है; न ही तथ्यों का संकलन है, बल्कि असली शिक्षा तो वह है जिसके सहारे इच्छा-शक्ति का प्रवाह हो तथा नवीन विचारों का संचार हो ।' उन्होंने कहा था, 'मैं उस व्यक्ति को ज्यादा शिक्षित मानता हूँ, जिसने अपने जीवन में निरन्तर एक आदर्श का पालन किया हो, बजाय इसके कि उस आदमी के जिसने पूरा ग्रन्थालय ही कण्ठस्थ कर लिया हो ।' मूल्य-आधारित शिक्षा हमें सिखलाती है कि मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य सुख नहीं, अपितु ज्ञान है ।

''भारत का कल्याण करने के लिए, इसका उत्थान करने के लिए हमें ऐसी मूल्य-आधारित शिक्षा की जरूरत है, जो हमारे मस्तिष्क को क्रियाशील और रचनात्मक बना सके, एक ऐसा मस्तिष्क जो चिन्तन कर सके, विचार कर सके, एक ऐसी शिक्षा जिससे हमारा हृदय अनुभव करना सीखे, एक ऐसी शिक्षा जो हमें कर्मशील बना सके, जो हमारे व्यक्तित्व का विकास कर सके, जो हमें हमारी अनन्त शक्ति का अहसास करा सके । न चाहते हुए भी हमें इस बात को स्वीकार करना होगा कि भारत में सबके कल्याण के लिये बलिदान के भाव का अभी विकास नहीं हुआ है । अपने विश्वविद्यालयों को ही लीजिए – वे केवल परीक्षा लेने की संस्थाएँ मात्र रह गई हैं । हमारे देश में शिक्षादान का महान् कार्य सदैव त्यागी लोगों द्वारा ही होता रहा है । जब तक त्यागी लोगों ने अध्यापन किया था, तब तक भारत का कल्याण हुआ । इस देश में जब तक शिक्षा-दान का भार पुन: त्यागी लोगों को नहीं दिया जाता, तब तक भारत का कल्याण सम्भव नहीं है । पहले हमें गुरुजन पढ़ाते थे, आजकल शिक्षाकर्मी पढ़ाते हैं ।

''स्वामीजी ने एक बड़ी अद्भुत बात कही है – सेब धरती पर कैसे गिरता है या गुरुत्वाकर्षण की शक्ति कैसे काम करती है, केवल इतना सीखना ही शिक्षा का उद्देश्य नहीं है । अत: भारत के कल्याण के लिये ऐसी शिक्षा चाहिये, जहाँ धर्म और विज्ञान में समन्वय हो ।

''मूल्य-आधारित शिक्षा का एक लक्ष्य धर्म और विज्ञान में सामंजस्य स्थापित करना भी है । विज्ञान की कोशिश है कि लोगों का भौतिक जीवन बेहतर हो, जबकि अध्यात्म का प्रयास है कि प्रार्थना आदि उपायों से मनुष्य सच्ची राह पर चलें । विज्ञान और अध्यात्म के मिलन से तेजस्वी नागरिक का निर्माण होता है । यदि जीवन के ये दो पहलू आपस में मिल जायें, तो हम चिन्तन के उस शिखर पर पहुँच जायेंगे, जहाँ उद्देश्य तथा कर्म एक हो जाते हैं ।

''नैतिक मूल्यों के अभाव में आज हमारे युवाओं में देशप्रेम की भावना तथा नेतृत्व का अभाव होता जा रहा है, इसलिये भारत का कल्याण सिर्फ मूल्य-आधारित शिक्षा से ही सम्भव है । अन्त में यह

कहते हुए मैं अपनी वाणी को विराम देना चाहूँगा – **सर्वमेव शमस्तु नः** अर्थात् हमारे लिए सब कुछ कल्याणकारी हो ।''

कुमारी मीनल बंछोर ने 'मूल्य-आधारित शिक्षा' के विपक्ष में कहा – ''आज हमें उस शिक्षा की जरूरत है, जो ऐसे इंजीनियर, वैज्ञानिक आदि का निर्माण कर सके, जो हमारे देश को सुखी-समृद्ध कर सकें ।'' प्रभात सिंह ने पक्ष में कहा कि आज के युवा आधुनिक शिक्षा की ओर बढ़ रहे हैं, जो शिक्षा-पद्धति हमें नैतिक मूल्यों से दूर कर देती है । भारत को ऐसे इंजीनियर, डॉक्टर पैदा करने चाहिये, जो नैतिक मूल्यों से सम्पन्न हों ।''

इस सत्र की अध्यक्षता रविशंकर विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र विभागाध्यक्ष श्री जे.एल. भरद्वाज ने की । उन्होंने कहा, ''आर्थिक-सुधार और शिक्षा-सुधार आदि बहुत आवश्यक हैं । कुशाग्र बुद्धिवाले नौजवानों से चमकते हुये भारत का निर्माण होगा, जिसकी कल्पना भारत के पूर्व-राष्ट्रपति डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम जी ने की है । विवेकशील और चरित्रवान लोग भूखों नहीं मरते । सन्त तरुण मुनि जी और दूसरे लोगों के पास क्या है कि इतने लोग उनके पास जाते हैं । धर्म और अर्थ प्रतिद्वन्द्वी नहीं हैं । हमें जीने के लिये धन चाहिये, किन्तु धन कमाने का साधन विवेकसम्मत, सही और नैतिक हो ।''

केवल आर्थिक समृद्धि से भारत-कल्याण सम्भव नहीं

४ जनवरी, सोमवार के दिन 'अन्तर्विद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता' थी । विषय था – **इस सदन की राय में केवल आर्थिक समृद्धि से भारत का कल्याण सम्भव नहीं है** । प्रथम पुरस्कार विजेत्री कु. मेघा चौबे ने विषय के पक्ष में कहा – ''हमारी पहचान हमारी भारतीय संस्कृति है, जिसके कारण हम पूरे विश्व में जाने जाते हैं –

यूनान मिस्र और रोमा सब मिट गये जहाँ से,
लेकिन अभी है बाकी नामो निशां हमारा ।
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी,
सदियों रहा है दुश्मन, दौरे जमाँ हमारा ।।

द्वितीय पुरस्कार विजेत्री होली क्रास स्कूल की कुमारी प्रियांशी तिवारी विपक्ष में बोलीं – ''भारत को इतना सम्मान भारत की आर्थिक-समृद्धि से ही मिल रहा है । राष्ट्र के उद्योग, व्यापार आदि सभी आर्थिक समृद्धि से ही चलते हैं । आज अमेरिका पूरे विश्व का संचालन आर्थिक समृद्धि के बल पर ही करता है । आज भारत को रोटी-कपड़ा, पेय जल, शिक्षा-स्वास्थ्य आदि की कोई समस्या नहीं है । यह सब केवल आर्थिक समृद्धि पर ही निर्भर है । देश के कल्याण के लिये आर्थिक समृद्धि आवश्यक है ।'' विषय के पक्ष में कुमारी पायल कस्तूरिया ने कहा, ''रावण के पास सोने की लंका थी, जो सब प्रकार से सम्पन्न थी । लेकिन एक ही असामाजिक अवगुण – अहंकार से उसका विनाश हो गया । अत: सामाजिक, पारिवारिक, राष्ट्रीय एकता, ईमानदारी आदि गुणों से भारत का कल्याण सम्भव है, मात्र आर्थिक विकास से नहीं ।''

इस सत्र की अध्यक्षता डी.वी. बालिका महाविद्यालय, रायपुर के प्राचार्य श्री अरविन्द गिरोलकर ने की ।

तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता

५ जनवरी, मंगलवार को 'अन्तर्विद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता' थी । प्रथम पुरस्कार विजेत्री कुमारी मेघा चौबे ने **बिन बिजली सब सून** – विषय पर अपने विचार प्रकट करते हुए कहा, ''हमारे जीवन में जो स्थान प्राण, श्वास और हवा का है, वही बिजली का है । टी.वी., कम्प्यूटर, कल-कारखाने, हवा-पानी, मोटर, पम्प, यहाँ तक कि राष्ट्रीय सुरक्षा आदि सभी बिजली पर ही आधारित हैं । यह हमारे जीवन का अभिन्न अंग है ।'' द्वितीय पुरस्कार विजेता सेंट जेवियर हाई स्कूल, रायपुर के श्री खुशवन्त फतनानी को विषय मिला था – **देकर दान बनो महान्** । उन्होंने विषय का प्रतिपादन करते हुये कहा – ''दान अतुलनीय है । दान देकर दिखावा न करें । ऋषि दधिचि ने अपनी हड्डियों को नि:स्वार्थ भाव से दान कर दिया । हम भाग्यशाली हैं कि ईश्वर ने हमें दान देने का अवसर दिया है ।'' विवेकानन्द विद्यापीठ के छात्र बलवन्त सिंह भारद्वाज ने **गाँव की ओर चलो** विषय पर कहा, ''गाँव हमारी संस्कृति का केन्द्र है । गाँव हमारे पूर्वजों की जन्मभूमि और आदर्श का केन्द्र है । वहाँ से हमें अपने नैतिक, सामाजिक तथा परम्परागत सभ्यता की शिक्षा मिलती है ।'' सुशान्त झा ने **कम्प्यूटर के फायदे** विषय पर अपने विचार प्रकट करते हुये कहा, ''कम्प्यूटर अधिक-से-अधिक काम को कम समय में कर देता है । कार्य के साथ यह मनोरंजन का साधन भी है । जो कार्य इंसान के लिये मुश्किल है, वह कार्य कम्प्यूटर के द्वारा चुटकियों में सम्पन्न हो जाता है ।''

इस सत्र की अध्यक्षता रुंगटा कॉलेज, भिलाई के प्राचार्य श्री आर.पी. सुखेजा जी ने की । अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने छात्रों को विभिन्न विषयों पर व्यावहारिक सुझाव दिये ।

राष्ट्रपुरुष स्वामी विवेकानन्द

६ जनवरी, मंगलवार को 'अन्तर्विद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता' थी । विषय था – **राष्ट्रपुरुष स्वामी विवेकानन्द** । प्रथम पुरस्कार विजेता केन्द्रीय विद्यालय के छात्र श्री सुशान्त झा ने कहा – ''स्वामी विवेकानन्द जी ने कन्याकुमारी की शिला पर बैठकर ध्यान किया और भारत की स्थिति को समझा । स्वामी विवेकानन्द में धर्म और राजनीति सभी समाहित होते हैं । स्वामीजी का राष्ट्रप्रेम अद्वितीय है । वे सचमुच ही राष्ट्रपुरुष हैं ।'' द्वितीय पुरस्कार विजेता संजय साहू ने स्वामीजी के देशप्रेम-विषयक विचार प्रकट किये । कुमारी प्रियांशी तिवारी ने कहा – ''धर्म, साहित्य, कला तथा संस्कृति पर स्वामी विवेकानन्द के विचार उनके पूरे साहित्य में बिखरे पड़े हैं । ४० वर्ष से कम उम्र में १० सालों में वे जो राष्ट्र को दे गये, वह शताब्दियों तक प्रेरणा देता रहेगा ।'' नागेन्द्र सिंह ने कहा कि स्वामी विवेकानन्द एक मेधावी संन्यासी के रूप में विश्ववरेण्य हैं, जिन्होंने स्वतंत्रता एवं राष्ट्रीयता का शंखनाद किया ।'' मेघा चौबे ने कहा कि स्वामीजी निर्विवाद रूप से नवयुग के निर्माता हैं । मेघा ने स्वामीजी के अग्निमंत्र का पाठ किया, स्वामीजी द्वारा प्रतिपादित नारी का आदर्श एवं राष्ट्रीय विचारों की आवृत्ति की तथा उनका उद्घोष मंत्र – 'उठो जागो और लक्ष्य प्राप्ति तक रुको मत' का पाठ किया । कुमारी पायल कस्तूरिया ने कहा कि पत्थर की भाँति मत जिओ, कुछ छाप छोड़कर जाओ, जैसा कि स्वामी विवेकानन्द और अन्य महापुरुषों ने किया ।'' खुशवन्त फतनानी ने अपने दो मिनट के वक्तव्य में ही गागर में सागर भर दिया ।

इस सत्र की अध्यक्षता शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, धमतरी के प्राचार्य डॉ. के. एन. बापट ने की । उन्होंने अपने उद्बोधन में कहा कि ''हमें यह सोचना चाहिये कि स्वामीजी हमसे क्या अपेक्षा रखते हैं? मेरी दृष्टि में स्वामीजी के अनुसार शिक्षा-पद्धति में परिवर्तन हो । हमारी चिन्तन-मनन की पद्धति का विकास हो । हमें कर्तव्य-परायण होना चाहिये । आज के युग में स्वामी विवेकानन्द जी के द्वारा प्रवर्तित सर्व-धर्म-समभाव की आवश्यकता है ।''

मैंने स्वामी विवेकानन्द से क्या सीखा

७ जनवरी, बुधवार को 'अन्तर्माध्यमिक शाला विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता' थी । विषय था – **मैंने स्वामी विवेकानन्द से क्या सीखा?** प्रतियोगिता में प्रथम पुरस्कार श्री मानवेन्द्र नाथ ठाकुर ने प्राप्त किया । द्वितीय पुरस्कार विजेत्री होली क्रास स्कूल, पेंसन बाड़ा, रायपुर की ८वीं वर्ग की छात्रा कुमारी आनन्दिता शर्मा ने कहा –

न भावना है न भक्ति है, विचार सारगर्भित है ।
हृदय के उमड़े हुए भाव सबको सादर समर्पित है ।।

''स्वामी विवेकानन्द ! जिनकी याद आते ही एक ऐसे तेजस्वी व्यक्ति का चित्र आँखों में उभर आता है, जिनके शरीर पर वस्त्र तो हिन्दू संन्यासी के हैं, पर जिनके अन्दर में समूची मानवता के लिये दर्द भरा हुआ है । मनुष्य मात्र ही उनका लक्ष्य है, मानव की जड़ता का नाश करना ही उनका आदर्श है । स्वामीजी का हृदय समूची मानवता के लिए स्पन्दित होता था । स्वामीजी मनुष्य मात्र को आत्मविश्वासी, स्व-निर्भर और सशक्त बनाना चाहते थे । इस लक्ष्य-प्राप्ति के लिये उन्होंने सर्वदा इस बात पर बल दिया कि हमें धर्म की सच्ची मर्यादा स्थापित करनेवाले तथा उज्ज्वल चरित्र के नागरिकों के निर्माण करने में समर्थ शिक्षा की जरूरत है । हमें ऐसे सिद्धान्त चाहिये, जिनसे हम मनुष्य बन सकें । Freedom is the Song of the soul. स्वाधीनता ही आत्मा का संगीत है – यह सन्देश जब स्वामीजी के हृदय से निकला, तब उन्होंने समग्र देशवासियों को मुग्ध और उन्मत्त कर दिया । उनकी साधना, आचरण तथा भाषणों के द्वारा यह सत्य प्रकट हुआ ।

''स्वामी विवेकानन्द ने मनुष्य को तरह-तरह के बन्धनों से मुक्त होकर सही मनुष्य बनने को कहा और दूसरी तरफ सर्व-धर्म-समन्वय के प्रचार के जरिये भारतीय राष्ट्रीयता की आधारशिला स्थापित की । वे कहा करते थे – जो भी तुमको शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से दुर्बल बनाये, उसे जहर की भाँति त्याग दो, जिसमें जीवनी-शक्ति नहीं है, वह कभी सत्य नहीं हो सकता । सत्य तो बलप्रद है, सत्य में पवित्रता है, सत्य तो ज्ञानस्वरूप है; सत्य तो वह है, जो शक्ति दे, जो हृदय के अन्धकार को दूर कर दे । स्वामीजी ने हमें सीख दी कि समग्र मनुष्यों की सेवा ही भगवान की सेवा है । वह भगवान ही सब प्रकार के मनुष्यों के रूप में हमारे सम्मुख खड़ा है । बहुत समय पहले हमारे सामने एक महान् सत्य रखा गया था – बहुजन-हिताय बहुजन-सुखाय । पर स्वामीजी ने आगे जाकर कहा – सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय । यह मन्त्र सबके सामने रखा और कहा, 'If you want to serve God, Serve man.' – यदि तुम्हें भगवान की सेवा करनी है, तो तुम मनुष्यों की सेवा करो । यहाँ भगवान ही सब प्रकार के मनुष्यों के रूप में तुम्हारे सम्मुख खड़ा है । हमें सिखाया जाता है – अतिथि देवो भव, मातृ देवो भव, पितृदेवो भव, पर स्वामीजी ने कहा – दरिद्र देवो भव, अज्ञानी देवो भव । सबको भगवान समझकर सबको देवता समझ कर, हमें उनकी सेवा करनी चाहिये । यही मानवतावाद का सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त है और इसी सिद्धान्त को स्वामीजी जन-जन तक पहुँचाना चाहते थे । नवीन राष्ट्र के निर्माण के लिये प्रत्येक मनुष्य का मानवतावादी होना जरूरी है और सच्चे मनुष्यों की प्राप्ति के बिना राष्ट्र निर्माण हो ही नहीं सकता । स्वामीजी ने कहा है – Man making is my mission. – सच्चे मनुष्यों का निर्माण करना ही मेरा जीवनोद्देश्य है । अनेक देशभक्तों एवं समाज सुधारकों द्वारा भारत में मानवतावाद को जीवित रखने के लिये जो नींव तैयार की गई, स्वामीजी उसमें अश्वत्थ होकर उठे । अभिनव भारत को जिस दिशा की ओर जाना है, उसका स्पष्ट संकेत भी स्वामीजी ने ही दिया । स्वामी विवेकानन्द वह सेतु है, जिसमें प्राचीन भारत और नवीन भारत परस्पर आलिंगन करते हैं । स्वामी विवेकानन्द वह समुद्र है, जिसमें धर्म, राजनीति अन्तर्राष्ट्रीयता, विज्ञान, उपनिषद् – सब-के-सब समाहित हैं । ऐसे आनन्द और प्रेम के समुद्र से क्या नहीं सीखा जा सकता !

''स्वामीजी के बारे में बोलते समय मैं आनन्द-विभोर हुए बिना नहीं रह पाती, उनका व्यक्तित्व गहन और बहुमुखी था; जो उनके उपदेशों और लेखों से भी विलक्षण था । उनके धनी व्यक्तित्व ने उनके स्वदेश-वासियों पर अद्भुत प्रभाव का विस्तार किया है । वे अपने त्याग में असंयमित, कर्म में अथक, प्रेम में असीम, विद्या-बुद्धि में गहन एवं बहुमुखी, भावुकता में अतिरेकी तथा संघर्ष में निर्मम थे और इसके बावजूद वे एक शिशु के समान सरल थे । हमारे इस जगत् में उनके जैसा व्यक्तित्व दुर्लभ है । अन्त में मैं केवल इतना ही कहूँगी –

स्वामी विवेकानन्द को शत-शत नमन है,
जिनसे सजा इस देश का उजड़ा चमन है ।
वेदान्त और व्यवहार को समझा सहज ही,
हम में जगायी मानवतावाद की लगन है ।।

विवेकानन्द विद्यापीठ के देवेन्द्र कुमार मिर्धा ने कहा – ''मैंने स्वामीजी से अपने तन-मन-धन और वाणी को पवित्र करना सीखा । उनसे राष्ट्रभक्ति का पाठ, राष्ट्रीय विकास की प्रणाली, शिक्षा और सेवा के आदर्श एवं महान् बनना सीखा ।'' प्रांशुल तिवारी – ''व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास, जीवन में ज्ञान-भक्ति-कर्म की जरूरत, दरिद्र-नारायण की सेवा, नैतिकता व सच्चाई मैंने स्वामीजी से सीखा । जीवन ममी नहीं, धड़कता हुआ दिल है । जन-कल्याण, वसुधैव कुटुम्बकम्, संघर्ष करना, श्रद्धा-आस्था करना भी मैंने स्वामीजी से ही सीखा ।'' प्रत्युश शर्मा ने कहा कि उन्होंने स्वामीजी से निर्भीकता और दयालुता सीखा । कु. वैष्णवी काले ने कहा – ''मैंने स्वामीजी से सीखा कि हजार बार असफलता के बाद भी, एक बार फिर से प्रयास करो । अपने आप और परमात्मा पर विश्वास रखो । स्वयं को दुर्बल न समझो । दुर्बलता अज्ञान है, अज्ञान ही पाप है और पाप ही मृत्यु है । सबके प्रति मैत्रीभाव रखना तथा दीन-दुखियों के प्रति दयावान बनना सीखा ।''

इस सत्र की अध्यक्षता शासकीय नवीन कन्या महाविद्यालय,

रायपुर की प्राचार्या श्रीमती अरुणा पलटा जी ने किया । उन्होंने बच्चों की सराहना करते हुये कहा – ''मुझे खुशी हुई कि इतनी कम उम्र में बच्चे स्वामीजी के बारे में बहुत कुछ जानते हैं । जानने और अपनाने में अन्तर होता है । अत: आप जानकर अपनायें और सीखें । हम लोग भौतिकतावादी युग में जी रहे हैं, लेकिन पैसा ही सब कुछ नहीं होता है । पैसे से बिस्तर खरीदा जा सकता है, लेकिन नींद नहीं । भवन खरीदा जा सकता है, लेकिन खुशी नहीं । जीवन में लक्ष्य से कभी भटकें नहीं । अर्जुन को लक्ष्य-वेध के समय केवल मछली की आँख ही दिखती थी । आपमें लक्ष्य-प्राप्ति की चाहत होनी चाहिये । सुकरात से एक युवक ने सफलता का रहस्य पूछा । उन्होंने उस युवक को दूसरे दिन बुलाया और नदी के किनारे ले गये । वे नदी में उतरने लगे, युवक भी साथ-साथ उतरने लगा । उन्होंने गहरे जल में ले जाकर युवक को नदी के जल में जबरदस्ती डूबाकर कुछ देर दबाये रखा । युवक घबराकर किसी तरह से छुड़ाकर जान बचाकर भागा । तट पर आकर युवक ने सुकरात से पूछा कि उन्होंने उसके साथ ऐसा क्यों किया? सुकरात ने युवक से पूछा – पानी के भीतर तुम्हें कैसा लग रहा था? युवक बोला – मैं तो बाहर निकलने के लिये व्यग्र हो गया था । मुझे तो उस समय अपने प्राण बचाने के लिये साँस लेने हेतु हवा की जरूरत थी । सुकरात के कहा कि लक्ष्य-प्राप्ति हेतु इस प्रकार की व्यग्रता ही सफलता का राज है । बच्चों अपने जीवन में धैर्य का विकास करें । कोक का पेड़ पाँच वर्ष तक कुछ विकसित दिखाई नहीं देता, किन्तु उसके बाद वह शीघ्र ही कई फीट लम्बा हो जाता है । तो वह पाँच वर्ष बेकार नहीं गया । धैर्यपूर्वक उसमें जल, खाद आदि देते रहना पड़ता है । इसलिये धैर्य रखें, इसका परिणाम समय पर अवश्य मिलता है ।''

बम की अपेक्षा कलम अधिक बिस्फोटक है

८ जनवरी, शुक्रवार को 'अन्तर्माध्यमिक शाला वाद-विवाद प्रतियोगिता थी । विषय था – बम की अपेक्षा कलम अधिक बिस्फोटक है । प्रथम पुरस्कार विजेता ओम दूबे ने विपक्ष में अपने विचार प्रकट करते हुये कहा – ''आदरणीय अध्यक्ष महोदय तथा मित्रो, यह कलम विचारकों का अस्त्र है, जिसका विस्फोट बदलाव लाता है, विचार जगाता है, पर यह अन्तिम निर्णय नहीं लेता, तभी तो समाज और दुनिया को बम के विस्फोट का सहारा लेना पड़ा, युद्ध का सहारा लेना पड़ा । ये बम ही तो है जिसके कारण बड़े-बड़े इतिहास रचे गये । यह बम युद्ध है, यह अन्तिम फैसले लेने की घड़ी है, जो इतनी विनाशकारी है कि इसके डर, दहशत से दूसरे अधर्मी को पैदा होने में, दूसरे रावण को पैदा होने में, दूसरे दुर्योधन को, हिटलर को भी दुबारा जन्म लेने में डर लगने लगता है । तभी तो तृतीय विश्वयुद्ध थमा है ।

''बम के विस्फोट का अर्थ है देश की वह शक्ति, जिसके दम पर देशवासी चैन की सांस ले पाते हैं, कलमवाले भी सांस ले पाते हैं और हम-आप भी चैन से सो पाते हैं । यह शक्ति, यह विस्फोट, मात्र विनाश नहीं करता, अपितु हमें एक बड़े विनाश से बचाता भी है । हिरोशिमा-नागासाकी के दहशत-रुदन की पुनरावृत्ति को रोकता भी है ।

आइये हम इतिहास पर नजर डालें । बालक राम धनुष लेकर असुरों से लड़ने के लिये निकल पड़े । रामायण में श्रीराम दूत भेज-भेज कर थक गये, फिर अन्तिम निर्णय हुआ विस्फोट का – युद्ध तथा विनाश का । महाभारत में तो विचारक कृष्ण के विचार ज्ञानियों को समझा-समझाकर थक गये, फिर निर्णय लेना पड़ा युद्ध का । हिटलर स्वयं के विस्फोट से डर गया । अकबर के पास विचारकों के नौ रत्न थे, किन्तु यही अकबर शान्ति के लिये बार-बार युद्ध के मैदान में पहुँच जाता था, फिर महान् अकबर महान् योद्धा भी कहलाया ।

''मेरे मित्र गांधीजी की बातें करते हैं, पर आजादी हमें मात्र गांधीजी के कारण नहीं मिली । उसमें रानी लक्ष्मीबाई, आजाद, भगत सिंह, लो. तिलक आदि के योगदानों को हम नहीं भूल सकते हैं ।

''अमेरिका सबसे सशक्त देश बम की ताकत के दम पर है । सब विचारक हार गये और उसने अपनी ताकत को दिखाने के लिये ईराक पर बम गिरा दिया । मित्रो, हम सीमा पर युद्ध लड़ने सौनिकों को कलम लेकर नहीं भेज सकते हैं । वहाँ शस्त्रों का उपयोग करना पड़ता है । इसलिये रक्षा मंत्रालय में बन्दूक, तोप, बम की बातें होती हैं, अच्छी-अच्छी कलमों की नहीं । हम सबको बम्बई ताज-होटल-कांड याद ही है । आंतकवादी मात्र १०-१५ की संख्या में थे और पूरे भारत में डर, दहशत, खौफ पैदा कर दिया । उस समय विचारकों ने कलम रख दी और टी.वी. के सामने डरे हुये बैठ गये । सरकार ने युद्ध का निर्णय लिया, युद्ध द्वारा ताज आजाद हुआ और चैन की साँस ली । अधर्म फिर हारा, धर्म जीता; परन्तु युद्ध से जीता, न कि कलम से जीता । गीता में तो कहा भी है – जब-जब धर्म की हानि होगी, इन अधर्मियों का नाश करने ईश्वर आयेंगे, जो युद्ध के द्वारा इनका विनाश करेंगे, यह अन्तिम सच है । फिर सृजन होगा यह भी सच है, तभी तो यहाँ पर आप हम हैं । यहीं तो बम भारी पड़ता है कलम के ऊपर ।''

संदीप पाटले ने विपक्ष में कहा –

इस दुनिया में दो ही हैं औजार,
दोनों हैं एक दूसरे से तेज तर्रार ।
एक जगाता है मनुष्य की आत्मा को,
तो दूसरा जलाकर राख कर देता है उसकी काया को ।।

''बम का एक पर्याय विस्फोट भी है । चलिये, हम पहले रोजमर्रा की जिन्दगी की बात करते हैं । अखबार में आये बम-विस्फोटों की खबरों को आँखें फाड़-फाड़ कर हम पढ़ते हैं, पर एक कलम के विज्ञापन को अनदेखा करके पन्ना पलट देते हैं । यदि हम एक साल में सौ अलग-अलग किस्मों की कलमों का उत्पादन करें, तो वह एक सामान्य घटना है । मगर यदि उसी एक साल में हम एक अणुबम का भी सफल परीक्षण करें, तो उसके फटने से पहले ही विस्फोट हो जाता है । सिर्फ एक धमाका और हमारे सारे वेद-पुराण मिल जायेंगे खाक में, अब आप ही कहिये किसका प्रभाव आप पर ज्यादा पड़ता है ।

एक बम और लाखों की सम्पत्ति की क्षति,
एक बम और मीलों की भूमि बंजर,
एक बम और कितनों की दुनिया हो गई खत्म ।।

अब आप ही कहिये मेरे विपक्षी साथी कि यहाँ किसकी तूती बजती है – कलम की या बम की? किन्तु फिर भी हमारे विपक्षी प्रतिभागियों को सन्देह है, तो बस इतना बताइये कि किसके फटने से

आती है आवाज और फिर हमेशा के लिये आँखें मूँद लेता है इंसान ।

माना कि कलम से देश में बड़ी-बड़ी क्रान्तियाँ हुई हैं जिसमें क्रान्ति करनेवालों का नाम भी बहुत हुआ है । लेकिन बम बनानेवालों को किसी नाम की जरूरत नहीं, उनके अविष्कार से सारा जहाँ हर ६० सेकेंड के बाद खौफ में डूब जाता है, फिर क्या जरूरत किसी क्रान्ति की । बम बनानेवालों की तो अपनी अलग मिसाल है । अब मैं अपने वक्तव्य के माध्यम से आपको ये भी ज्ञात करा दूँ कि पूरे विश्व का सबसे उच्चतम पुरस्कार मतलब नोबल पुरस्कार राशि भी सबसे घातक बमों के आविष्कारक की याद में दिया जाता है । अरे, जिस कलम से कल किसी का जमीर जागता था, उसी जमीर के जिगर को चिथड़ों में उड़ा देगा एक धमाका । कोई भले ही अपनी गुमी हुई कलम की कीमत भूल जाये, किन्तु हिरोशिमा और नागासाकी में हुए बम धमाके को नहीं भूल सकते, वर्ल्ड ट्रेड सेंटर का हादसा नहीं भूल सकते । यदि देश विदेश की खबरें आप भूल भी जायँ, पर कैसे भूलेंगे मुम्बई में हुए खूनी धमाके को, जिसमें कितनों की दुनिया हमेशा-हमेशा के लिये खत्म हो गयी ।

अपनी बात की सम्पूर्ण पुष्टि करने के लिये अब मैं आपको सबसे सरल और सशक्त उदाहरण देना चाहूँगा । इतिहास तो पढ़ा ही होगा आपने और पढ़ा है तो सरफरोश भगत सिंह याद ही होंगे, जिन्होंने अपनी बात सामने से कहने के लिये असेम्बली में बम गिराया । भले ही इससे किसी को नुकसान नहीं हुआ, लेकिन हमारे विषय की बात सच जरूर साबित हो गई । क्योंकि भगत सिंह ने साफ कहा था – बहरों को सुनाने के लिए धमाकों की जरूरत होती है । अब मैं आपको इसी कक्ष का उदाहरण देकर कहना चाहूँगा कि यदि यहाँ पर एक कलम गिर जाय तो क्या होगा? या तो शरीफों की तरह आप पूछेंगे कि ये किसकी कलम है या फिर चोरों की तरह उसे पॉकेट में डाल लेंगे । लेकिन उसी कलम की जगह एक बम गिरे, तो इन दोनों काम में से आप कोई भी काम नहीं करेंगे, अपितु फौरन दुम दबाकर दौड़ पड़ेंगे । अब कहिये मेरे विपक्षी साथी आप क्या कहेंगे? लेकिन आप नहीं, मैं कहूँगा –

इस किताब की हस्ती ही क्या है,
उड़ गये है आशियानों के आशियानें उस बस्ती में,
जहाँ भी रखनी चाही नींव उस कलम ने,
उड़ा दिये गये बम से ।।

द्वितीय पुरस्कार विजेता विवेकानन्द विद्यापीठ के धनश्याम साहू ने पक्ष में कहा –

ओस की बूँदों से पत्तियाँ नम नहीं होतीं,
लाख कोशिश करो कलम की शक्ति कम नहीं होती ।।

"आदरणीय अध्यक्ष महोदय तथा उपस्थित प्रबुद्ध श्रोताओ – जैसा कि आप सबको सर्व विदित है कि इस सदन की राय में बम की अपेक्षा कलम अधिक विस्फोटक है, इस विषय के पक्ष में मैं अपना मत प्रस्तुत करना चाहता हूँ । समस्या यह है कि जब भी संस्कृति के ह्रास या हनन की बात आती है, तो लोग यह देखने की कोशिश नहीं करते कि उस मामले में शारीरिक बल अधिक फलदायी है या मानसिक आक्रमण । संस्कृति के विनाश की कोशिश में बम या कलम कौन अधिक विस्फोटक है? उत्तर है – कलम, जी हाँ, कलम !

"क्योंकि बम से निकली हुई आग केवल लोगों को क्षति पहुँचा कर कुछ ही क्षणों में बुझ जाती है, लेकिन कलम से निकली आग जीवन -पर्यन्त धधकती रहती है । इस तथ्य के पक्ष में पाइथागोरस ने क्या खूब कहा है कि कलम का घाव तलवार के घाव से अधिक मारक होता है । क्योंकि बम केवल शरीर पर अघात करता है और कलम आत्मा पर । बम के प्रहार से मनुष्य केवल एक बार मरता है, पर कलम के प्रहार से जीवित मनुष्य भी मृत्यु तुल्य जीवन जीते हैं ।

"जिस सभ्यता, जिस संस्कृति के लिये आज पूरा विश्व हमें जानता है, उसकी नींव भी कहीं-न-कहीं इस विस्फोटक कलम ने ही रखी है । बम को विस्फोटक बतानेवालों से मैं पूछना चाहूँगा कि यदि बम इतना ही विस्फोटक था, तो हमें हमारी स्वतंत्रता इस बम ने क्यों नहीं दिलायी । हमें तो हमारी स्वतंत्रता उन महापुरुषों की कलम द्वारा लिखे लेखों से मिली, जिसने दूर-दूर तक क्रान्ति की लहर विखेर दी ।

"किसी ने सच ही कहा है कि कलम एक तलवार है, जो भगवान विष्णु के चक्र से भी तेज है । क्योंकि कलम में माता सरस्वती का वास है । लोगों के जीवन को तबाह करने वाले बम का विस्फोट हमेशा से ही ध्वंसकारी रहा है, जबकि कलम का विस्फोट हमेशा सृजनकारी रहा है । हम हमेशा बिगाड़ने वाले से बनाने वाले को बड़ा मानते हैं । फिर आज बम कैसे कलम को छोटा बना पायेगा? बम में केवल इतनी ही शक्ति होती है कि वह लोगों को खत्म कर सकता है, पर उनके विचारों को नहीं, पर कलम में इतनी शक्ति होती है कि वह बम बनाने वाले मस्तिष्क में आये विचारों को सृजनात्मक शक्ति प्रदान कर सकती है ।

"हम हमेशा से ही यह जानते हैं कि मानसिक शक्ति, भौतिक शक्ति से बढ़कर होती है और विचार ही संसार पर शासन करते हैं । कलम स्वयं भले ही खामोश है, पर वह असंख्य लोगों को कर्म करने की प्रेरणा देती है और किसी भी राष्ट्र का इतिहास बदल सकती है ।

अध्यक्ष महोदय ! वह कलम की ही शक्ति है जिसके कारण आज भारत समूचे विश्व में अपनी पहचान बना चुका है । आज कम्प्यूटर के क्षेत्र में, तकनीकी क्षेत्र में भारत का लोहा सभी देश मानते हैं, वह कलम की ही शक्ति है, जिसने भारत को इस क्षेत्र में सिरमौर बना दिया है ।

"बम के निर्माण में खर्च होनेवाली राशि इतनी अधिक होती है कि वह देश की आर्थिक स्थिति को कई वर्ष पीछे ढकेल देती है, जबकि एक सस्ती-सी कलम देश के विकास को उन्नति के शिखर तक पहुँचा देती है । बम की शक्ति लोगों में डर पैदा करती है, जबकि कलम की शक्ति निर्भीकता लाती है । अब आप ही बताइये कि आप अपनी आनेवाली पीढ़ी को बम के विस्फोट से डराना पसन्द करेंगे या कलम की शक्ति से निर्भीक बनाना चाहेंगे । नेपोलियन ने बिल्कुल सही कहा है कि दुनिया में दो ही ताकतें हैं – बम और कलम । अन्त में बम हमेशा कलम से हारता । अन्त में मैं यही कहना चाहूँगा –

है बड़ा उसमें जो दम, चल पड़े उसके कदम ।
कभी होती है नरम, कभी होती है गरम,
देखो क्या कहती है कलम,
छोड़ देती है शरम, खोल देती है भरम ।
कभी देती है जखम, कभी देती मरहम ।

लिखना है उसका धरम, चलना है उसका करम ।
बम की शक्ति ऐसी है, जो करती है बरबादी ।
कलम ही वह ताकत है, जिसने दी है आजादी ।।

प्रत्युष शर्मा ने विषय के पक्ष में कहा – ''कलम भावना, साहित्य, कला, वाणिज्य आदि विधाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम है । द्रौपदी द्वारा दुर्योधन को कही हुई एक बात – ''अन्धे का लड़का अन्धा होता है'' – के कारण द्रौपदी का इतना बड़ा अपमान हुआ और दुर्योधन द्वारा – ''सूई की नोंक के बराबर भी जमीन नहीं दूँगा'' – इस कथन के कारण ही महाभारत का इतना बड़ा युद्ध हुआ । अत: कलम के सामने बम कुछ भी नहीं है ।'' प्रांशुल तिवारी ने विपक्ष में कहा – ''युद्ध के लिये बम आवश्यक है । युद्ध परिवर्तन का मापक है । युद्ध में बम आवश्यक है । कलम की यदि इतनी ताकत होती, तो समस्त संसार में शान्ति स्थापित हो जाती । वर्षों से हम समझौता करते आये हैं, लेकिन परिणाम आपके सामने है । समस्याओं का समाधान सैन्य-बल से आया है, कलम से नहीं ।'' कुमारी राखी सोनी ने पक्ष में कहा – ''किसी को जितना है, तो कलम की धार से जीतो । कलम कठोर-से-कठोर व्यक्ति को पिघला सकता है । वैचारिक क्रान्ति केवल कलम से सम्भव है । कलम विश्व की सबसे बड़ी प्रभावशाली यंत्र है । क्रान्तिकारी लेखनों के कारण विश्वयुद्ध हुआ और विनाश हो गया । बम का निर्माण सूत्र से होता है और सूत्र कलम से लिखा जाता है । बम का विस्फोट विनाशकारी, किन्तु कलम का विस्फोट रचनात्मक होता है । कलम ज्ञान का साधन है, इससे ज्ञान की ज्योति फैला सकते हैं ।'' कुमारी वैशाली सिंह ने पक्ष में कहा – ''कलम राष्ट्र की उन्नति का साधन है । कलम राष्ट्र को लक्ष्य प्राप्ति हेतु प्रेरित करता है । कलम से परोपकार की भावना जागृत होती है । पुस्तकें समाज का दर्पण हैं । कलम के बिना पुस्तकों का सृजन असम्भव है ।''

इस सत्र की अध्यक्षता करते हुये शासकीय महाविद्यालय, तिल्दा के प्राचार्य डॉ. एस.के. चटर्जी ने सभी प्रतिभागियों द्वारा प्रदत्त व्याख्यान के सारांश को बड़े ही सरस और रोचक ढंग से प्रस्तुत किया । उन्होंने एक प्रतिभागी के प्रसंग में कहा कि भगत सिंह ने बम का विस्फोट अवश्य किया था, लेकिन उनकी फाँसी के समय उनकी अन्तिम इच्छा पूछने पर उन्होंने कुछ किताबें, कलम और खाली कागज माँगे थे ।''

विवेकानन्द-साहित्य से पाठ-आवृत्ति

९ जनवरी, शनिवार को अन्तर्प्राथमिक पाठावृत्ति प्रतियोगिता थी, जिसमें केवल प्राथमिक विद्यालय के छात्र ही प्रतिभागी होते हैं । इसमें उन्हें स्वामी विवेकानन्द साहित्य के कुछ अंश मौखिक सुनाने होते हैं । प्रथम पुरस्कार विजेता मृणांक चौबे ने अग्निमंत्र का पाठ किया । अन्त में उन्होंने कहा कि 'माँ हमें मनुष्य बना दो । माँ मेरी कापुरुषता दूर कर दो ।' कुमारी वृषाली ने कहा कि स्वामीजी ने समर्पित लोगों को इकट्ठा कर समाज के गरीब लोगों की सेवा में लगाया । द्वितीय पुरस्कार विजेत्री कुमारी समृद्धि शर्मा ने कहा कि प्रेम असम्भव को भी सम्भव कर देता है तथा राष्ट्रभक्ति का पाठ किया । प्रथम देवांगन और सुष्मिता ताम्रकार ने स्वामीजी की इस प्रसिद्ध वाणी का पाठ किया – ''विश्वास ! विश्वास ! विश्वास ! अपने आप पर विश्वास ! परमात्मा पर विश्वास ! यही सफलता का रहस्य है ।'' सबसे छोटी तनिशा देवांगन ने गायत्री मंत्र का पाठ किया ।

इस सत्र की अध्यक्षता करते हुये रविशंकर विश्वविद्यालय के भाषा-विज्ञान अध्ययनशाला के प्राध्यापक श्री चितरंजन कर ने कहा – ''मछली अनुकूल परिस्थितियों – जल में रहकर ही जीवन-यापन करती है । यदि उसे जल से बाहर निकाल दिया जाय, तो वह तड़पकर मर जायेगी; लेकिन मनुष्य की यह विशेषता है कि वह प्रतिकूल परिस्थितियों में भी सफलता प्राप्त कर सकता है । व्यक्ति साधनों से सफल नहीं होता, वह साधना से सफल होता है ।'' प्रतियोगिता के सभी सत्रों का संचालन स्वामी व्रजनाथानन्द जी ने किया ।

विश्वविद्यालय में 'राष्ट्रीय युवा-दिवस'

१२ जनवरी, मंगलवार को प्रात: ९ बजे रविशंकर विश्वविद्यालय और रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम के संयुक्त तत्त्वावधान में 'राष्ट्रीय युवा-दिवस' मनाया गया । विश्वविद्यालय परिसर में स्थित स्वामी विवेकानन्दजी की मूर्ति की पूजा एवं आरती की गयी । आश्रम के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी, विश्वविद्यालय के कुलपति श्री एस.के. पाण्डेय और अन्य प्राध्यापकों-अधिकारियों ने स्वामीजी को पुष्पांजलि अर्पित किया । आश्रम के संन्यासी-ब्रह्मचारी एवं छात्रावास के छात्रों द्वारा शान्ति-मंत्र का पाठ किया गया । कार्यक्रम का श्रीगणेश विवेकानन्द विद्यापीठ के छात्रों द्वारा वैदिक-पाठ एवं प्रारम्भिक भजन 'सुनी हूँ मैं तव नाम, विवेकानन्द धाम' से हुआ । अतिथियों का पुष्पहार से स्वागत करने के उपरान्त राष्ट्रीय सेवा योजना के कार्यक्रम समन्वयक श्री सुभाष चन्द्राकर ने स्वागत भाषण किया । उन्होंने छात्रों से कहा – ''यहाँ सभी लोग विवेक और आनन्द चाहते होंगे, इसके लिये विवेकानन्द जी की शरण में जाना होगा । छात्रों से मेरा निवेदन है कि वे उपस्थित विद्वान् वक्ताओं का लाभ उठायें और यहाँ से कुछ सीखकर, कुछ लेकर जायें ।''

इसके बाद रामकृष्ण मिशन आश्रम द्वारा संचालित भाषण प्रतियोगिताओं में प्रथम पुरस्कार प्राप्त छात्रों के तेजस्वी व्याख्यान हुये । राष्ट्रीय सेवा योजना के प्रादेशिक संयोजक डॉ. टी.आर. नायक ने कहा कि हमें विवेक और आनन्द हेतु स्वामी विवेकानन्द जी के आचार-विचार ग्रहण करने होंगे । स्वामीजी का पठन-पाठन हो और अपने आचरण द्वारा उनका प्रदर्शन हो । जीवन में स्वच्छता बनाये रखें, यह सुस्वास्थ्य हेतु अति आवश्यक है । विवेकानन्द विद्यापीठ के सचिव एवं विश्वविद्यालय के क्षेत्रीय अध्ययन विभाग के अध्यक्ष डॉ. ओमप्रकाश जी वर्मा ने स्वामीजी के जीवन-चरित पर प्रकाश डालते हुये कहा – ''स्वामी विवेकानन्द जी त्रिकालज्ञ थे । उनके लिये भारत कोई भौगोलिक सत्ता मात्र नहीं था, यहाँ के नदी, पर्वत, जंगल, साहित्य, कला, आदि सब कुछ उनके लिये जीवन्त थे । भारत उनका प्राण था । भारतीयता उनके श्वास-प्रश्वास से स्पन्दित होती थी ।'' सभा को सम्बोधित करते हुये विश्वविद्यालय के कुलपति श्री एस.के. पाण्डेय ने कहा – ''यह प्रांगण शिक्षा का मन्दिर है । हम स्वामी विवेकानन्द जी के उन विचारों को अपने जीवन में आत्मसात् करें, जिसके लिये स्वामीजी ने अपना पूरा जीवन दे दिया । हमारी इच्छा

है कि स्वामीजी के विचार-दर्शन इस परिसर में गूँजते रहें। यदि हम उनके जीवन के प्रसंगों का एक अंश भी अपने जीवन में रूपायित कर सके, तो हमें शान्ति मिलेगी। आइये, आज हम संकल्प लें कि हम स्वामीजी द्वारा प्रदत्त शिक्षाओं का अपने जीवन में आचरण करेंगे।'' विवेकानन्द आश्रम के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने छात्रों के व्यक्तित्व-विकास हेतु व्यावहारिक सुझाव दिये तथा जीवन में नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की जरूरत पर बल दिया। विश्वविद्यालय की कुलसचिव डॉ. इन्दु अनंत जी ने भी छात्रों को सम्बोधित किया।

सभा का संचालन डॉ प्रीतिलाल जी ने किया। विवेकानन्द विद्यापीठ के बच्चों के 'वन्दे मातरम्' गीत से सभा सम्पन्न हुई। कार्यक्रम के अन्त में सबको विवेकानन्द आश्रम, रायपुर की ओर से 'सबके स्वामीजी' नामक पुस्तक और अल्पाहार वितरित किया गया।

'विवेकानन्द-जयन्ती समारोह' का उद्घाटन

१२ जनवरी को ही शाम ६ बजे आश्रम-प्रांगण में राज्यसभा सदस्य श्री गोपाल व्यास ने 'विवेकानन्द जयन्ती समारोह' का उद्घाटन करने के बाद पुरस्कार वितरण किया। कार्यक्रम का शुभारम्भ आगत अतिथियों के दीप प्रज्वलन एवं आश्रम के संन्यासी-ब्रह्मचारियों के शान्ति-पाठ से हुआ। उसके बाद आश्रम-छात्रावास के बच्चों ने 'मनुष्य तू बड़ा महान् है' – गीत प्रस्तुत किया। तत्पश्चात् स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने मुख्य अतिथियों का स्वागत, उनका परिचय एवं आश्रम की गतिविधियों का प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। व्यासजी का परिचय देते हुये स्वामीजी ने कहा कि मोक्ष प्राप्ति के दो मार्ग हैं – प्रवृत्ति एवं निवृत्ति। व्यासजी ने प्रवृत्ति-मार्ग में रहकर जीवन भर राष्ट्र की सेवा किया। स्वामी विवेकानन्द जी इनके जीवन के आदर्श हैं। किसी भी कार्यकर्ता का मान-सम्मान सब राष्ट्र ही होता है। ये निरभिमानी राष्ट्रसेवक हैं। इसके बाद स्वामीजी ने आश्रम का विस्तृत इतिहास बताया और आश्रम के क्रिया-कलापों से सभा को अवगत कराया। उसके बाद आश्रम द्वारा आयोजित भाषण प्रतियोगिता में प्रथम पुरस्कार प्राप्त बच्चों के व्याख्यान हुये।

अपने अध्यक्षीय व्याख्यान में श्री गोपाल व्यास ने कहा – ''बच्चों के द्वारा गाये गये गीत 'मनुष्य तू बड़ा महान है' – के रास्ते पर चला जा सकता है। इसका ज्वलन्त उदाहरण रामकृष्ण मिशन और उनकी प्रेरणा से चलने वाले लाखों लोग हैं। हमारे जैसे लोग भी इसका कुछ आलम्ब लेकर चलते हैं। मैं व्याख्यान देनेवाले बच्चों का अभिनन्दन करता हूँ। स्वामी विवेकानन्द ने सारी दुनिया को चुनौती दी और कहा कि गर्व से कहो कि हम हिन्दू हैं। संविधान के अनुच्छेद-१ में भारत को राज्यों का समुच्चय बताया गया है। मैंने संशोधित करते हुये कहा कि यह राज्यों का समुच्चय मात्र नहीं, कश्मीर से कन्याकुमारी तक एक राष्ट्र है, हिन्दुस्तान है – हिमालयं समारभ्य यावत् सागर ... ... हिन्दुस्तान इति उच्यते। यहाँ 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' के स्वर गूँजते हैं। ये भाव इस देश की आत्मा है। महाराष्ट्र के एक न्यायालय ने कहा – 'हिन्दुत्व इस देश की जीवनशैली का नाम है'। मैं स्वामी विवेकानन्द जी का वह उद्धरण हमेशा अपने साथ रखता हूँ, जिसमें वे कहते हैं – ''किसी भी कार्य को पूरी एकाग्रतापूर्वक करो। उसके सिवाय दूसरा कुछ मत सोचो।'' चुनौतियाँ और संकट व्यापक हैं। ऋषियों ने तपस्या करके जो दिया, वह राष्ट्र भारत है, यह मात्र वादातीत नहीं है। इस देश की महान् पीड़ा को बाँटते हुये हम स्वामी विवेकानन्द, श्रीरामकृष्ण और माँ सारदा से प्रार्थना करें कि वे हमें इस समाज के लिये कुछ करने की शक्ति प्रदान करें। अमेरिका में एक महिला ने हमसे पूछा कि आप क्लब में नहीं जाते हैं, पीते भी नहीं हैं, फिर भी आप दुखी क्यों नहीं हैं? मैंने उनसे कहा कि सुख-दुख तो अन्दर का विषय है, बाहर का नहीं। हम सारे विश्व में व्याप्त हैं, जहाँ खोदो, वहीं भारतीय संस्कृति के चिह्न मिलेंगे।''

इसके बाद आश्रम के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने श्री गोपाल व्यास जी और श्री सदाराम गुप्ता जी को उपहार में सप्रेम पुस्तकें भेंट कीं। तत्पश्चात् श्री व्यास जी ने बच्चों को पुरस्कार प्रदान किये। आश्रम के छात्रावासीय बच्चों के 'हम होंगे कामयाब' – गीत द्वारा सभा सुसम्पन्न हुयी। कार्यक्रम का संचालन डॉ ओमप्रकाश जी वर्मा और धन्यवाद ज्ञापन स्वामी निर्विकारानन्द जी ने किया।

'बालक-संघ' का सांस्कृतिक कार्यक्रम

१३ जनवरी, बुधवार को आश्रम द्वारा संचालित 'विवेकानन्द-बालक-संघ' ने शाम ७.४० से १० बजे तक सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किया, जिसमें छोटे-छोटे बच्चों ने सुआ तथा बारहमासा आदि विभिन्न प्रकार के मुग्धकारी मनोरंजक नृत्य एवं प्रेरणादायी 'बेरोजगार' और 'कुएँ का मेढ़क' नामक लघु नाटक का मंचन किया। श्री नरेन्द्र वर्मा जी द्वारा रचित भावपूर्ण गीत 'जय हो छत्तीसगढ़ मैया' का मंचन बच्चों ने किया, जो सबको भाव-विभोर कर दिया। कार्यक्रम का निर्देशन 'बालक-संघ' के संचालक ब्रह्मचारी नन्द कुमार जी ने किया।

दरिद्र-नारायण सेवा

१४ जनवरी, बृहस्पतिवार को संक्रान्ति के दिन स्वामी विवेकानन्द जयन्ती, माँ सारदा की स्मृति और संक्रान्ति के उपलक्ष्य में गरीबों को लगभग ५०० कम्बल बाँटे गये। आश्रम द्वारा लगभग २ वर्षों से प्रति माह लगभग ७ हजार रुपयों की खाद्य सामग्री (दाल, दलिया, चना, गुड़, तेल, मुरमुरा) एक अनाथालय – गुरुकुल आश्रम, हतबन्द, नन्दनवन, रायपुर को दी जाती है।

रामायण तथा भागवत पर प्रवचन-मालाएँ

मानव-जीवन में आध्यात्मिक विकास एवं ईश्वर-भक्ति-वर्धन हेतु आध्यात्मिक प्रवचन-शृंखला में आश्रम-पण्डाल में प्रतिदिन सायं ७ से ९ बजे तक १७ जनवरी, रविवार से २३ जनवरी, शनिवार तक पं. उमाशंकरजी व्यास के 'हनुमत् चरित' पर तात्त्विक सरस प्रवचन हुये। २४ जनवरी, रविवार से ३० जनवरी शनिवार तक स्वामी राजेश्वरानन्द सरस्वती (राजेश रामायणी जी) के 'विभीषण चरित' पर भक्तिपूर्ण संगीतमय मनोरंजक प्रवचन हुये और ३१ जनवरी से ३ फरवरी तक स्वामी श्रीधराचार्य जी महाराज के भागवत के 'प्रह्लाद चरित' पर दार्शनिक, भक्तिमय एवं सुबोध साधनोपयोगी प्रवचन हुये।

(प्रस्तुति – धनीराम राठौर और दुर्गेश ताम्रकार,

विवेकानन्द विद्यार्थी भवन, रायपुर)

Ramakrishna Mission

Near RIMS Hopital, Kadapa 516002 (A.P.) Phone 200120, 200633
E-mail : kadapamath@yahoo.com web : www.rkm-kadapa.org

एक अपील

श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ सारदा, श्री स्वामी विवेकानन्द जी की कृपा और भक्ति तथा मित्रों के हार्दिक सहयोग से कड़प्पा के रामकृष्ण मिशन ने अल्प समय में ही काफी उन्नति कर ली है। रिम्स अस्पताल के निकट स्थित १० एकड़ के परिसर से अब मिशन की प्रमुख गतिविधियाँ संचालित हो रही हैं। (१) एक नि:शुल्क छात्रावास, जिसमें ग्रामीण अंचल के हाई स्कूल के छात्रों को रखा जाता है। वर्तमान में – ३० बच्चे। (२) विशाल सभागार – विभिन्न सांस्कृतिक तथा धार्मिक कार्यक्रमों हेतु। (३) कार्यालय, ग्रन्थालय तथा साहित्य विक्रय भवन। (४) विवेकानन्द विद्या-निकेतन स्कूल भवन। (५) सन्त-निवास और (६) कर्मचारी-आवास।

आश्रम में पूजा, भजन, प्रवचन, आध्यात्मिक शिविर, मुफ्त पुस्तकालय तथा मुफ्त साप्ताहिक होम्योपैथी चिकित्सा की नियमित गतिविधियाँ चलती हैं। इसके अतिरिक्त आदर्श शिक्षण, कृषि प्रशिक्षण, अँग्रेजी में बोलने की शिक्षा आदि कार्यक्रम भी आयोजित किये जाते हैं। आवश्यकतानुसार भोजन-वस्त्र आदि वितरण के रूप में नारायण सेवा भी की जाती है, जैसा कि अक्टूबर २००९ में कर्नूल जिले में आयी भयंकर बाढ़ के समय किया गया था।

श्रीरामकृष्ण के सार्वजनीन मन्दिर की आधारशिला, रामकृष्ण मठ तथा मिशन, बेलूड़ मठ के उपाध्यक्ष श्रीमत स्वामी स्मरणानन्द जी महाराज के कर-कमलों से ६ सितम्बर, २००९ को स्थापित की गई थी। मन्दिर का निर्माण कार्य यथाशीघ्र आरम्भ करने में हम आपके हार्दिक सहयोग की अपेक्षा करते हैं। स्कूल के लिये फर्नीचर, वाहन तथा शैक्षणिक गतिविधियों के सुचारू परिचालन हेतु एक स्थायी कोष के निर्माण की भी आवश्यकता है।

सार्वजनीन मन्दिर

* पूजागृह २०'x२०' मुख्य गुम्बज की ऊँचाई पर ४२ फीट
* प्रार्थना हॉल – ५५' x ३३', बैठने की क्षमता २२५ व्यक्ति
* बरामदा १६३' x ९.७५' तीन तरफ, क्षमता १५० व्यक्ति
* सामने खुला बरामदा – ८०'x४०', क्षमता – २५० व्यक्ति
* पूजा व्यवस्था कक्ष तथा भंडार।

हम एक बार पुन: आपसे निम्नलिखित में से किसी भी मद में उदारतापूर्वक दान करने का अनुरोध करते हैं –

श्रीरामकृष्ण का सार्वजनीन मन्दिर – रु. १४० लाख
स्कूल के लिए फर्नीचर, उपकरण, २ बस – रु. २५ लाख
शैक्षणिक तथा अन्य गतिविधियों के
सुचारु परिचालन हेतु – रु. १०० लाख

राशि छोटी या बड़ी, सधन्यवाद स्वीकार की जायेगी। आश्रम को दिये गये दान आयकर अधिनियम की धारा ८०-जी के अन्तर्गत कर मुक्त है।

कृपया चेक या ड्राफ्ट 'रामकृष्ण मिशन, कड़प्पा' (Ramakrishna Mission, Kadapa या (Cuddapah) के नाम से बनवायें – जो कड़प्पा (Kadapa) में प्रदेय हों।

प्रभु की सेवा में

स्वामी आत्मविदानन्द
सचिव